उत्तराधिकार

सांगीतिक परंपरा : कुछ विचार

संकलन : वीणा सहस्रबुद्धे

गांधर्व संगीत महाविद्यालय मंडल
वाशी, नवी मुंबई

© श्रीमती वीणा सहस्रबुद्धे 2000

प्रकाशक :
अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल,
गांधर्व निकेतन, प्लॉट 5, सेक्टर 9 ए,
वाशी, नवी मुंबई 400 703.

मुद्रक :
'मुद्रा', 383 नारायण पेठ,
पुणे 411 030.

वितरक :
पॉप्युलर प्रकाशन प्रा. लि.,
35 सी, पं. मदनमोहन मालवीय रोड,
ताडदेव, मुंबई 400 034.

मूल्य :
रु. 150/-

वीणा सहस्रबुद्धे

संगीतमय परिवार में जन्म, कत्थक नृत्य के बाद ख्याल गायन में पिता और ज्येष्ठ बंधू से दीक्षा। तत्पश्चात् अन्य कई पंडितों से मार्गदर्शन। सभी महत्त्वपूर्ण मंचों पर अपनी कला का सफल मार्गदर्शन।

Stockholm और Copenhagen के "Voices of the World Festival" में सहभाग।

भारत की स्वतंत्रता के पचासवें जन्मदिवस पर Asia Society, New York में भारत का प्रतिनिधित्त्व।

1993 के उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत।

एक सफल रचनाकार।

30 से अधिक ध्वनिमुद्रण प्रकाशित।

अनेक होनहार शिष्याएँ।

मेरी माँ, पिताजी व भाईसाहब को
सप्रेम समर्पित

मनोगत

मेरे संगीत मित्रों,

यह पुस्तक आपके समक्ष प्रस्तुत कर, मेरे मन में जो हर्ष और संतोष का अनुभव हो रहा है, वह अपूर्व है। इस पुस्तक का संकलन मै कर सकूँगी इस बात का मुझे अंदाज़ा नहीं था, किन्तु एक बात निश्चित थी, कि मै अपने संस्मरण लिखूँगी ज़रूर – वे प्रकाशित हों अथवा न हों। यह मेरा परम सौभाग्य है; कि संगीत जैसी विद्या मुझे धरोहर के रूप में, संस्कारवश मिली है। विद्या दान देने से दुगनी बढ़ती है, ऐसी मान्यता है। मेरे पिताजी ने विद्या दान का यह पुण्य कार्य, जिस तन्मयता से किया और जिस अभिमान से वे अपने को संगीत शिक्षक कहलवाते – शायद यही एक कारण रहा होगा कि इन विचारों ने मुझे लिखने पर बाध्य किया।

1975 में मेरे पिताजी का 75 वाँ जन्मदिन कानपुर में मनाया गया था। उस कार्यक्रम की पूरी योजना और आयोजन की व्यवस्था मेरे बड़े भाई काशीनाथजी ने की थी। पं. कुमार गंधर्वजी का गायन उस कार्यक्रम का विशेष आकर्षण था। मै उस समय अमेरिका में थी, इस कारण उस कार्यक्रम में उपस्थित न रह सकी। पिताजी के जन्मशताब्दी के अवसर पर, हम दोनों भाई-बहन कुछ कार्यक्रमों की योजना बना रहे थे, लेकिन पाँच वर्ष पूर्व जुलाई 1995 में बड़े भाईसाहब का अकस्मात् स्वर्गवास हो जाने के कारण इस कार्यक्रम का भार मुझको ही लेना पड़ा। बड़े सौभाग्य की बात है कि वाशी स्थित अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल में आचार्य शंकरराव बोडस सभागृह की योजना साकार रूप ले रही है। 23 अप्रैल 2000 को उसकी उद्घाटन तिथि भी निश्चित हो चुकी है।

माता-पिता और गुरु के ऋण से तो कोई मुक्त हो नहीं सकता किन्तु उनसे जो विद्या मुझे प्राप्त हुई है, उसके कुछ अनुभव मैने इस पुस्तक में लिखे हैं।

पिताजी के जीवन के 60 वर्ष अर्थात् 1926 से लेकर 1986 में उनके स्वर्गवास तक कानपुर में रहकर उन्होंने जो कार्य किया उसका आलेख प्रस्तुत करने का इस

पुस्तक में प्रयास है। इस कार्य में समाज में संगीत की प्रतिष्ठा पुनः प्रस्थापित करना, स्कूल से लेकर M.A. तक संगीत की एक पाठ्य विषय के रूप में स्थापना, संगीत रचना के उनके नये प्रयोग इन सबका समावेश है।

पिताजी द्वारा लिखे कुछ पुराने लेखों को भी मैने इस पुस्तक में समाविष्ट किया है। उन लेखों द्वारा उस समय की सांगीतिक, सामाजिक, राजकीय, आर्थिक परिस्थितियों की कल्पना मिलती है, साथ ही साथ पिताजी की गुरु के प्रति भक्ति और आस्था के भी भावदर्शन होते हैं। पिताजी के मिलनसार स्वभाव के आकर्षण से संगीत क्षेत्र में दैदीप्यमान यश प्राप्त कई कलाकारों को नज़दीक से देखने-सुनने का सुअवसर तो मुझे मिला ही साथ ही साथ सीखने को भी मिला। उनमें से कुछ का मेरे ऊपर विशेष प्रभाव पड़ा अर्थात् पं. कुमार गंधर्वजी, पं. गजाननबुवा जोशीजी, पं. वसन्तराव ठकारजी और पं. बलवन्तराय भट्ट जी की गायन शैली, उनके द्वारा रचित बंदिशों के विषय में मुझे जो कुछ सीखने समझने का अवसर मिला उसको भी मैने इस पुस्तक में शब्दांकित किया है।

मेरे बड़ेभाईसाहब का स्नेह और प्यार मुझे जो मिला वह अवर्णनीय है। उन्होंने मुझे सदैव अपनी बेटी समान ही समझा। उनके विषय में मैने दो लेख लिखे हैं। कानपुर में उनका पचासवाँ जन्मदिन 1985 में मनाया गया था। "ऐसे है हमारे तात्या"। दूसरा लेख उनकी दूसरी पुण्यतिथि, पुणे में "गानवर्धन" संस्था ने आयोजित की थी। उसके प्रसंग में लिखा था। "पं. काशीनाथ शंकर बोडस – गायक और नायक"।

मेरी माँ मेरी मुख्य प्रेरणास्रोत रही हैं। उनसे बहुत कुछ मुझे सीखने को मिला। हर एक व्यक्ति के जीवन में उतार-चढ़ाव तो आते ही रहते हैं और यदि देखा जाय तो वह नैसर्गिक भी है, किन्तु उस समय एक ऐसे सशक्त व्यक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है, जो आपको धीरज भी दे और विश्वास भी दे कि "तुम आगे बढ़ो – मै तुम्हारे साथ हूँ।" – यही विश्वास और प्रेम मेरी माँ ने मुझे दिया। कुछ अवसर ऐसे आये कि मै डगमगाई, लेकिन उन्होंने मुझे सँभाल लिया।

मैने स्वयं कुछ बंदिशें बनाई हैं। उनकी निर्मिति के कुछ क्षणों को मैने अपने लेख में उतारने का प्रयास किया है। मुझे जैसी बंदिशें सूझती गई, मैने उन्हें राग-

ताल में बाँध दिया और स्वयं उन बंदिशों को महफ़िलों में प्रस्तुत कर, खूब आनंद उठाया है। ये बंदिशें भविष्य में रहें या न रहें, किन्तु बंदिशें बनाने का आनंद और संतोष मैने स्वयं अनुभव किया है और करती रहूँगी।

वीणा सहस्रबुद्धे

⌘

ऋण निर्देश

अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल के अध्यक्ष श्री. बलवन्त जोशीजी ने इस पुस्तक में लेख लिखकर मुझे एक प्रकार से आशीर्वाद दिया है। इसकी मुझे प्रसन्नता है। वास्तव में आचार्य शंकरराव बोडस सभागृह की मूल कल्पना उन्हीं की थी। इस सभागृह के निर्माण कार्य में अनेक N.R.I. संगीत प्रेमियों की हमें आर्थिक मदद हुई है। उन सभी की मै, मंडल की ओर से आभारी हूँ। कॅलिफोर्निया, अमेरिका में वास्तव्य कर रहे, मेरे पुत्र व स्नुषा डॉ. लक्ष्मण हरि सहस्रबुध्दे व श्रीमती जयंती सहस्रबुध्दे का सहयोग विशेष उल्लेखनीय हैं। यह कार्य प्रभु ने हम लोगों से करवाया हैं – यह उसी की कृपा है।

मेरी बड़ी बहन समान श्रीमती वीणापाणि शुक्ला उनके विषय में क्या कहा जाये? आय्.आय्.टी. कानपुर के कॅम्पस में रहते मुझे याद है, कि एक भी दिन ऐसा गुज़रा नहीं होगा कि हम दोनों एक दूसरे से मिलें न हों। वीणाजी ने मुझे सदैव हर काम में मदद और प्रोत्साहन दिया है। मेरे इस किताब के कुछ लेखों का उन्होंने शब्दांकन भी किया है और कुछ मराठी लेखों का हिन्दी अनुवाद इतनी सुंदर, सरल भाषा में किया है – वाचक स्वयं इसका अनुभव करेंगे ही।

मेरी शिष्याएँ जो तानपूरे के समान मेरे इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं, उनके बिना मैं क्या कर सकती हूँ? कु. रंजनी रामचन्द्रन, कु. वैशाली देसाई, श्रीमती अंजली मालकर, श्री. संदीप बोडस, कु. दुर्गा सहस्रबुध्दे – इन सबने मुझे लेख लिखने, प्रूफ जाँचने में, अलग-अलग ढंग से मदद की है।

पुणे विद्यापीठ के कंम्प्यूटर सायन्स विभाग के श्री. भोपळे और श्री. काळे का भी सहयोग प्राप्त हुआ है। उनकी मैं आभारी हूँ। मुद्रा प्रेस के श्री. सुजित पटवर्धनजी की व्यस्तता देखकर पहले तो मुझे पुस्तक के समय पर छपने की, चिन्ता हुई, किन्तु वे स्वयं संगीत प्रेमी होने के कारण, जिस आत्मीयता से उन्होंने इस पूरी किताब की सजावट की जिम्मेदारी सँभाली है – वह प्रशंसनीय है। मुद्रा प्रेस की पटवर्धनजी की, पूरी टीम को, मै धन्यवाद देती हूँ।

पुस्तक प्रकाशन का यह मेरा पहला ही प्रसंग था। इस क्षेत्र के अनुभवी व्यक्ति पॉप्युलर प्रकाशन के श्री. रामदास भटकलजी ने समय-समय पर मुझे उचित मार्गदर्शन किया और मेरा हौसला बढ़ाया।

अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल ने प्रकाशन के रूप में अपनी संस्था का नाम दिया है और आंशिक अनुदान का आश्वासन भी दिया है। अगली पुस्तक में 'बंदिशों' की स्वरलिपि और उनके बारें में सांगीतिक चर्चा है। वह भी शीघ्र प्रकाशित हों – ऐसा मेरा प्रयास है।

मेरे पति डॉ. हरि वासुदेव सहस्रबुद्धेजी का प्रोत्साहन, आधार, सलाह मुझे सदैव हर काम में मिलता आया है। मै केवल इतना ही कहूँगी, कि आगे आने वाले सभी प्रकल्पों में वे मेरे साथ रहें और हम दोनों का रिश्ता ऐसा ही बना रहे – प्रभु से इतनी ही प्रार्थना है।

अंत में, इस पुस्तक के पूर्ण होने में मुझे अपने सभी निकटवर्तियों का किसी न किसी प्रकार से सहयोग प्राप्त हुआ है। जिनका नाम निर्देश करना भूल से रह गया है, उनसे मै क्षमा चाहती हूँ।

वीणा सहस्रबुद्धे
23 अप्रैल, 2000

⌘

आचार्य शंकरराव बोडस

आचार्य शंकरराव बोडस तथा मेरे पिताजी सहपाठी होने से कुछ हद तक मै उनसे परिचित था। अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल के जयपुर अधिवेशन के समय, मै जयपुर मे ही था। उसी समय उनको नज़दीक से जानने का अवसर मिला। मंडल के पदाधिकारी होने के कारण बोडसजी जयपुर आते रहे तथा परिचय के अधिक अवसर मिलते रहे। तब तक मैने मंडल की कोई औपचारिक जिम्मेदारी नहीं सँभाली थी। मंडल के अध्यक्ष श्री देवधरजी तथा बोडसजी के अधिक परिचय से कुछ घटनाएँ तेजी से उभरकर सामने आईं। मेरा प्रवेश मंडल में रजिस्ट्रार के नाते से हुआ। बोडसजी सचिव होने से, अब सलाह मशविरे के प्रसंग अधिक आने लगे। कार्यकुशलता, समय की पाबंदी, मत प्रदर्शन में स्पष्टता, काम के प्रति लगन, आर्थिक व्यवहार की पारदर्शिता और सभा संचालन की प्रभावी पद्धति जैसे उनके अनेक गुण-विशेषों का अनुभव मिलता गया और सीखने के अवसर बढ़ते गये।

रजिस्ट्रार के नाते परिक्षा काम में गतिमानता के प्रयास, कार्यपद्धति में आवश्यक सुधार, कार्यकर्ताओं से परिचय, समस्याओं का निराकरण, तथा कार्यालय के पुनर्गठन जैसे मुद्दों पर निर्णय प्रक्रिया में उनका दृष्टिकोण सदैव सकारात्मक ही रहा। समय आने पर भिन्न दृष्टिकोण स्पष्टता से, दृढ़ता से, आवश्यक आधार लेकर सामने रखने की उनकी पद्धति मार्गदर्शक साबित हुई।

मिलनसार तथा मतांतरों का आदर करता व्यक्तिमत्त्व होने के कारण संस्था में उन्हें आदर का स्थान था। यही वजह है कि शंकररावजी से कठिन स्थितियों में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष जैसों का विचार-विमर्श सदैव होता रहा।

परिक्षा काम सँभालते-सँभालते रजिस्ट्रार कार्यालय की कक्षा व्यापक बनाने के प्रयासों में उन्होंने हमेशा रचनात्मक भूमिका निभाई। कार्यालय का मिरज में स्थलांतर, मिरज में भवन खरीदना, विष्णु दिगंबर जन्मशती समारोह, ग्रंथों के प्रकाशन, डॉक्यूमेंटरी, छायाचित्रों की प्रदर्शनी आदि प्रयासों में बोडसजी का

नज़रिया प्रगतिशील रहा। संस्था के लिये लाभकारक सभी प्रयासों का उन्होंने खुलकर स्वागत किया।

नांदेड में सन 1972-73 में हुए त्रैवार्षिक शिक्षक परिषद अधिवेशन तक सदस्यों को आने जाने का रेल किराया देने की प्रथा थी। इस काम में बोडसजी पूर्ण रूप से व्यस्त थे। इसी बीच एक सदस्य सामान खो जाने के कारण किसी भी सबूत के बिना मार्ग व्यय माँगने पर बाध्य हुआ। उनका मार्ग व्यय दिया जाए या नहीं इस बात का निर्णय सभी वरिष्ठ अधिकारियों ने मुझ पर सौंपा। उस समय बोडसजी मुझे समर्थन देने वाले एकमात्र वरिष्ठ थे।

बोडसजी के सचिव पद छोड़ने के उपरांत भी मंडल के कार्य पर उनका ध्यान लगातार बना रहा। ध्वनिमुद्रण संग्रह स्थापित करने का निर्णय मंडल ने लिया और इसकी जिम्मेदारी रजिस्ट्रार अर्थात मुझ पर सौंपी गई। यह समाचार मिलने पर मुझे एक विस्तृत पत्र लिखकर उन्होंने विश्वास जताया है, कि यह प्रकल्प अवश्य विकसित होगा और संस्था के लिये लाभदायी भी सिद्ध होगा।

संगीत संस्था चलाने के पीछे उद्देश्य क्या होने चाहिये? संस्था की व्यापकता तथा जिम्मेदारी का एहसास रखकर यह कार्य निभाना आवश्यक क्यों बनता है? इस पर उनके विचार उन्हीं के शब्दों में जान लेना उचित होगा। वे लिखते हैं –

"जिस पर अपनी संस्था को सुचारु रूप से चलाने का पागलपन सवार है और जो संस्था के सुख-दुख को समझता है, उसी को इस विषय पर बोलने का अधिकार है।"

"संगीत संस्था के संचालकों में हंस-क्षीर न्याय के अनुसार अच्छे गुणों का संचय करने की भावना होनी चाहिये।"

"संचालन समिति का कार्य मूलतः नीति निर्धारण करना मात्र है।" सारांश रूप में वे यह भी लिखते हैं कि, "संक्षेप में संस्थाएँ कला की दुकानदारी न करके सुगंधित, नयन मनोहर संगीत उपवन का निर्माण करें।"

गांधर्व महाविद्यालय की परंपरा 1901 में निर्माण हुई। उसकी शताब्दी 5 मई 2000 से हम मनाने जा रहे हैं। मंडल ने परंपरा का जतन किया है। इस दीर्घ

प्रवास में विष्णु दिगंबरजी के कार्य तथा त्याग का आदर करने वाले, बोडसजी जैसे विचारी शिष्यों के योगदान का मूल्यांकन करना संभव नहीं है। इसीलिये वाशी के गांधर्व निकेतन में आचार्य शंकरराव बोडस सभागृह का होना सर्वथा योग्य और आवश्यक भी है। मंडल परिवार तथा संगीत जगत के लिये यह चिरंतन स्मारक सदा प्रेरणादायी रहेगा।

इस स्मारक को साकार करने में अनेक लोगों का योगदान रहा है। वे सभी संबंधित प्रशंसा के पात्र हैं। इस पुस्तक के रूप में स्मारक के उद्‌घाटन की स्मृति बनी रहेगी यह मेरे लिये समाधान का विषय है। अंत में, इस पुस्तक का संकलन करने के लिये मै वीणा को मनःपूर्वक आशीर्वाद देता हूँ और ईश्वर से उसकी संगीत में उत्तरोत्तर प्रगति की कामना करता हूँ।

श्री. बलवंत जोशी
अध्यक्ष, अखिल भारतीय
गांधर्व महाविद्यालय मंडल, वाशी
5 अप्रैल, 2000

⌘

अनुक्रम

विभाग 1

1. स्व. गायनाचार्य पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर 1
2. भारतीय संगीत का पुनरुद्धार 15
3. भक्ति संगीत का योगदान 23
4. संगीत संस्थाएँ 29
   – लेखक : शं.श्री. बोडस
5. स्व. पं. डी.व्ही. पलुस्कर उर्फ़ बापूराव 33
   – लेखक : का.शं. बोडस

विभाग 2 : पं. शंकर श्रीपाद बोडस

6. जीवनवृत्त 39
7. जीवनमूल्य 49
8. सांगीतिक कार्य 53
   – लेखिका : वीणा सहस्रबुद्धे

विभाग 3

9. ऐसे हैं हमारे तात्या 67
10. स्व. पं. काशीनाथ शंकर बोडस 73
11. स्व. पं. कुमार गंधर्व 83
12. मेरे गुरु – पूज्य भैयाजी 89
13. स्व. पं. वसंतराव ठकार – एक अनोखा व्यक्तिमत्त्व 95
14. स्व. पं. गजाननबुवा जोशी 99
15. शास्त्रीय संगीत में नवनिर्मिति 103
    – लेखिका : वीणा सहस्रबुद्धे

विभाग 1

स्व. गायनाचार्य पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर
भारतीय संगीत का पुनरुद्धार
भक्ति संगीत का योगदान
संगीत संस्थाएँ

– लेखक : शं.श्री. बोडस

स्व. पं. डी.व्ही. पलुस्कर उर्फ़ बापूराव

– लेखक : का.शं. बोडस

स्व. गायनाचार्य पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर

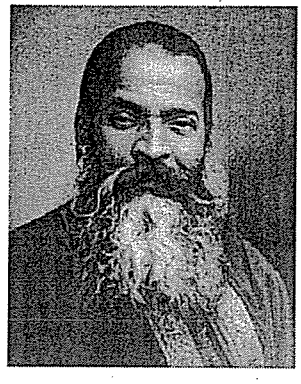

गत पच्चीस-तीस साल में राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए सत्याग्रहाश्रम, गुरुकुल, कर्वे महिला विद्यापीठ, हिन्दू विश्व-विद्यालय, अनाथ विद्यार्थी गृह, सर्वेण्ट्स ऑफ़ इण्डिया सोसाइटी, नागरी प्रचारिणी सभा, मैरिस म्यूज़िक कालेज, सेवा समिति, शान्ति-निकेतन इत्यादि जो छोटी बड़ी संस्थायें विविध व्यवसाय और उद्देश्य के लिये बनी हुई हैं और अपने अपने क्षेत्र में काम कर रही हैं। उन्हीं की पंक्ति में 'गांधर्व महाविद्यालय' भी शोभायमान हो सकता है। उपर्युक्त संस्थाओं के संस्थापक भी एक से एक बड़े असामान्य नर-रत्न थे और अभी हैं। कोई राष्ट्रीय नेता है तो कोई कविसम्राट है। किसी का यश ज्ञान-संतर्पण से फैला है तो किसी का राष्ट्र-भाषा की उन्नति करने से; कोई अपना चुपचाप अनाथों को ज्ञान के साथ अन्नदान भी करता है तो कोई संगीत से ईश्वरार्चन करके उसी के द्वारा जनता जनार्दन की सेवा करने में व्यग्र है। इस प्रकार से राष्ट्रीय उन्नति के लिये किसी न किसी अन्तिम सद्हेतु से प्रेरित हो कर वे अपना पूरा जन्म लगा रहे हैं। ऐसे पुण्यात्माओं में से स्वर्गीय पं. विष्णु दिगम्बरजी एक थे।

पंडितजी का नाम लेते ही काला लम्बा पर्शियन कोट, बनारसी साफ़ा बँधा हुआ, क़रीब-क़रीब पौने छः फ़ीट ऊँचाई का गौर-वर्णीय भव्य पुरुष, गम्भीर,

मीठा और ओजस्वी आवाज़ का असामान्य गायक और सन 1921 ई. के बाद तुलसीकृत रामायण में मग्न, कौपीन खड़ाऊँ युक्त ऋषितुल्य, निःस्वार्थी, त्यागमूर्ति आँखों के सामने खड़ी हो जाती है। पंडितजी का जन्म सन 1872 ई. के श्रावण पूर्णिमा को और अन्तकाल सन 1931 ई. के श्रावण शुक्ल अष्टमी के दिन (तुलसी जयन्ती के दूसरे ही दिन) हुआ।

उस समय का भारतीय संगीत

पंडितजी की बाल्यावस्था दक्षिण महाराष्ट्र के कुरुंदवाड़ नामक रियासत में व्यतीत हुई। उनके पिता पं. दिगम्बरबुवाजी बड़े कीर्तनकार थे। बचपन से ही पंडितजी को कीर्तन में सीधे सादे गीत गाने की आदत थी। वे इस समय अंग्रेज़ी शाला में भरती हुए थे। दीपावली के उत्सव में आतिशबाजी खेलते वक्त बारूद धोखे से उनकी आँखों में जाकर उनकी आँखें बहुत ही ख़राब हो गई। डॉक्टर की सलाह से उनका पढ़ना बन्द हुआ। ऐसी घटना में कुरुंदवाड़ के राजा ने उनको मिरज रियासत के दरबारी गवैया स्वर्गीय पं. बालकृष्णबुवा के पास गायन सीखने के लिए भेजा। उस वक्त भारतीय संगीत की परिस्थिति निराशापूर्ण थी। 1857 ई. के साल के बाद देश में पहले पच्चीस-तीस वर्षों तक स्मशान शान्ति छाई हुई थी। अंग्रेज़ी राज्य-शासन के अनोखे प्रभावों से जनता आश्चर्य और भय के भावों से विस्मित थी। अंग्रेज़ी शिक्षण, अंग्रेज़ी शिक्षा देने की विचित्र प्रणाली, उनके विविध आविष्कार, पाश्चात्यों का चाल-चलन, पहरावा, शिष्टाचार, उनके राजकीय एवं सामाजिक सुधार इत्यादि, अपरिचित संस्कृति को देख कर जनता दंग सी हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में संगीत सरीखी कला की अवनति अवश्यम्भावी थी। उस समय ग्वालियर, इन्दौर, बडौदा, मैसूर, जयपुर, रामपुर इत्यादि रियासतों में वैदिक, शास्त्री, हरिदास, पौराणिक गवैये बजवैये, तवायफ़ें तक नौकर थे। ग्वालियर में बंधुद्वय हद्दू हस्सू ख़ाँ, जयपुर में दौलत ख़ाँ, रामपुर में बज़ीर ख़ाँ, इन्दौर में नानासाहब पानसे, बडौदा में नासर ख़ाँ और नत्थन ख़ाँ, देवास में वासुदेवबुवा जोशी ऐसे नामांकित गवैये थे और इन्हीं के द्वारा संगीत-कला पूर्ण रूप से नष्ट न हो सकी थी। सर्वसाधारण जनता तो इस कला के प्रति उदासीन थी। ऐसी कलाओं का रक्षण रियासतों नें ही किया। रियासतों को छोड़कर अंग्रेज़ी भारत

में शास्त्रीय संगीत का नाम तक नहीं था। जो कुछ थोड़ा बहुत संगीत था वह महाराष्ट्र में लावणी के रूप में, उत्तरी भारत में ग़ज़ल व क़व्वाली के रूप में और बंगाल में भजन कीर्तन के रूप में था। दक्षिण भारत में अवश्य उसका प्रचार था और दक्षिण भारत अभी तक संगीत कला और शास्त्र में निपुण है। लावणी, ग़ज़ल, क़व्वाली का संगीत प्रायः श्रृंगाररसपूर्ण होने से और उसमें संगीत से अधिकतर महत्त्व कवित्व को होने से उच्च संगीत का विकास उनमें नहीं हो सकता था। उस काल में ख़्याल या ध्रुवपद पद्धति के गाने वाले बहुत ही कम थे। ऐसे समय में स्वर्गीय गुरु बालकृष्णबुवा ग्वालियर से ख़्याल गायकी सीख कर महाराष्ट्र में उसका प्रचार करने के लिये आये। ख़्याल पद्धति के गायक बन्धुद्वय हद्दू हस्सू ख़ाँ तानसेन की परम्परा के थे, उनके शिष्य बालकृष्णबुवा हुये। बुवाजी से पंडितजी ने इस विद्या को प्राप्त किया। उनसे इस लेख के लेखक को भी कुछ थोड़ी विद्या मिल गई है।

पंडितजी विद्यार्चन करते वक्त बहुत परिश्रम करते थे। कभी कभी पंडितजी ने बारह बारह घण्टे तक गाने का अभ्यास किया है। उनके रात दिन के अभ्यास से पड़ोस के लोग बहुत हैरान थे। जब मिरज राज्य के नरेश ने उनके लिये गाँव के बाहर अपने बंगले में रहने का और गाने का प्रबन्ध किया तब उनके अभ्यास का सिलसिला ठीक हुआ। विद्या प्राप्त करने के बाद सन 1896 या 97 साल में वे गुरु की आज्ञा से देश पर्यटन को निकले। पहला मुक़ाम सातारा में किया। उस वक्त गाने वालों को सद्गृहस्थों के घर में कोई आने जाने तक नहीं देता था। उनका आश्रय गाँवों की धर्मशाला, देवालय इत्यादि थे। एक दिन सातारा के प्रसिद्ध वकील दादासाहेब करन्दीकर के घर में पंडितजी की गायन-बैठक हुई। दो-चार घण्टे के गायन के बाद पंडितजी को भोजन और दो रुपये मिले। उनको बहुत दुख हुआ और उन्होंने सोचा कि जिस विद्या को कण्ठगत करने के लिए 10-12 साल की मेहनत भी कम पड़ती है उसका सम्मान जब एक दो रुपये में होता है, तो मैं प्रण करता हूँ कि गाने का सम्मान, गवैयों का आदर बढ़ाना ही मेरे जीवन का प्रथम उद्देश्य होगा। पंडितजी ने चलते वक्त दादासाहेब से कहा कि आज आपने मेरे गाने की क़ीमत सिर्फ़ दो रुपये की है, भविष्य में मैं आप से सौ रुपये से कम न लूंगा। दादासाहेब ने उत्तर देते वक्त कहा, "हाँ, आप अपने को और

अपनी विद्या को बढ़ा कर इस योग्य बनाइये तब देखा जायगा"। आगे चल कर बारह साल बाद जब पंडितजी सातारा आये तब उनसे गाना बिना सुने ही दादासाहेब ने 100 रुपये का नोट पंडितजी के हाथ में रख दिया और कहा कि मैं अपने ऋण से अब मुक्त हुआ हूँ। आपने जैसा प्रण किया था वैसा ही करके दिखला दिया, आप धन्य हैं। सातारा से बडौदा, इन्दौर, जयपुर इत्यादि रियासतों में घूमते हुये लगभग 1897-98 में मिरज के जवान गायक काश्मीर पहुँचे। वहाँ वे दो तीन साल तक दरबार के गवैये रहे। उनको रियासत मे बैठने के लिए एक घोड़ा और 200 रुपये मासिक मिलते थे। लेकिन ऐसा कर्तव्यवान पुरुष एक जगह बैठ नहीं सकता। दरबार की नौकरी का इस्तीफ़ा देकर लाहौर में सन 1901 ई. में पाँच मई को 'गांधर्व महाविद्यालय' नाम की संस्था स्थापित की। पहले-पहले तो पंजाब सरीखे रुक्ष देश में गायन सीखने के लिए विद्यार्थी मिलना मुश्किल सी बात थी। पहले 18 दिन तक एक भी विद्यार्थी दाख़िल न हुआ। उस वक़्त के एन.डब्ल्यू.आर. रेलवे के ट्राफ़िक मैनेज़र विद्यालय देखने के लिए आये और कोई विद्यार्थी न देखकर पूछा – "क्यों पंडितजी, आज विद्यालय की कोई छुट्टी है?" तो पंडितजी ने मुस्कराते हुए कहा – "नहीं साहब, अब तक कोई भरती नहीं हुआ।" ऐसी दशा से विद्यालय चलाकर वे ऐसी दशा में लाये कि उसकी उन्नति देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। जिस विद्यालय का सालाना ख़र्च 1901 ई. में 150 था उसी विद्यालय की शाखा उप शाखाओं का कुल ख़र्च सन 1920 ई. में लगभग 62,000 रुपया था। लाहौर में प्रथम पंडितजी ने एक उपदेशक और बोर्डिंग क्लास खोला, जिसमें ग़रीब विद्यार्थियों को अन्न, वस्त्र, अंग्रेज़ी शिक्षण और साथ ही साथ संगीत का विद्यादान मुफ्त देना शुरू किया। उनसे सीखे हुए सभी जाति के, सभी प्रान्तों के लगभग 100 गायन शिक्षक और प्रोफ़ेसर क़रीब 36 स्थानों पर संगीत के प्रचार का काम कर रहे हैं। जिनकी तालिका निम्नलिखित है :

पंजाब और देहली – लाहौर, अमृतसर, जालंधर, देहली।

संयुक्त प्रान्त – इलाहाबाद, बनारस, कानपुर, मथुरा।

बिहार, बंगाल, बर्मा – गया, कलकत्ता, रंगून।

मद्रास – मद्रास, बंगलौर।

बम्बई, महाराष्ट्र – बम्बई, पूना, नासिक, सोलापुर, पंढरपुर, बार्शी, सातारा, सांगली, मिरज, जत, कोल्हापुर।

गुजरात – अहमदाबाद, साबरमती, भावनगर, भड़ौच, आनन्द, जसवाडा।

सिन्ध – कराची, हैदराबाद।

मध्यभारत – नागपुर, वर्धा, खंड़वा, जबलपुर।

ऊपर दिए हुए स्थानों में पंडितजी के शिष्यों में कोई गायन विद्यालय खोल कर, तो कोई हाईस्कूल, कालेज में गायन शिक्षक की हैसियत से, कोई संगीत समिति, संगीत समाज, राष्ट्रीय संगीत मण्डल इत्यादि संस्थाओं के द्वारा संगीत की सेवा और प्रचार कर रहे हैं। गांधर्व महाविद्यालय मण्डल की तरफ़ से आजकल क़रीब 24 संगीत विद्यालय चलाये जाते हैं और हाईस्कूल, कालेजों में 19 संगीत शिक्षक कार्य कर रहे हैं।

यह पंडितजी का पहला वर्णनीय कार्य था।

दूसरा वर्णनीय वैशिष्ट्य

विद्यार्चन करने में अब तक बड़ी पुरानी पद्धति, चली आई थी। गुरूजी ने प्रथम स्वर और गीत के टुकड़े गाये और विद्यार्थियों ने उसका अनुकरण किया। ऐसी पद्धति होने से संगीत विद्या केवल श्रवणसाध्य हो गई थी। इस विद्या का स्वतंत्र अभ्यास करने का दूसरा कोई मार्ग न था। पहले उस्ताद भी खुले दिल से विद्यादान नहीं करते थे। ख़ासकर संगीत शिक्षा पाने के लिए बहुत सी कठिनाइयाँ पड़ती थीं। गुरूजी की मर्ज़ी हो, तो सीखना होता था नहीं तो वर्षों तक ख़ाली बैठे रहना पड़ता था। इस विद्या की अब तक कोई किताब और शिक्षण-क्रम न होने से कोई शिक्षित सज्जन इस विद्या की तरफ़ ध्यान नहीं देता था। लेकिन पंडितजी ने विद्यालय खोलते ही सोचा कि जब तक अर्वाचीन (Modern) पद्धति से संगीत का शिक्षण देने के लिए बाक़ायदा किताबें, अभ्यासक्रम (Course), परिक्षायें, निश्चित काल का पठन, पाठन, सिखलाने के तरीक़े इत्यादि पर ध्यान नहीं देंगे तब तक शिक्षित समाज का आकर्षण इस विद्या की ओर नहीं होगा। इसलिए आपने लगभग 1902 ई. में भारतीय संगीत के लिए नई स्वरलिपि (Notation

System) बनवा कर किताबें लिखना प्रारम्भ किया। अब तक स्वरलिपि में उनकी लिखी हुई 40-50 संगीत की पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। अब इन्हीं किताबों की सहायता से 6 साल का शिक्षण-क्रम चलने लगा है। पंडितजी की किताबों में 'राग-प्रवेश' नामक जो पुस्तकमाला है उसमें ख़्याल गायकी के बहुत से गीत लिखे गए हैं। इन्हीं पुस्तकों में गीत, आलाप, तान, बोलतान इत्यादि ख़्याल स्टाइल (style) के मुख्य अंगों का सुन्दर विस्तृत वर्णन किया गया है। यदि विद्यार्थी उसे परिश्रमपूर्वक कण्ठगत करें तो महफ़िल में ख़्याल गाने के लिए समर्थ हो सकता है। इस माला के 19 भाग हैं। इसमें पूरिया, मल्हार, केदार, बहार, मालकंस, भूपाली, बिहाग, आसावरी, कल्याण, मुल्तानी, ललित वग़ैरह "राग प्रवेशों" में कोई अच्छे गवैये के बिना तैयार किए हुए (extempore) गाने में जैसी सुन्दरता और प्रतिभा आती है वैसी ही सुन्दरता स्वर-लेखन में लिखी गई है। गांधर्व महाविद्यालय की स्वरलिपि सर्वांग परिपूर्ण (perfect) है यह सिद्ध करने के लिए इतना ही प्रमाण काफ़ी है। इन किताबों के पहले आलाप, तान, बोलतान इत्यादि गीत और लय के क्लिष्ट और कठिन प्रकार का नोटेशन नहीं हुआ था। इतना परिप्लुत नोटेशन बनवाने के लिए पंडितजी को बहुत ही सोचना पड़ा। पंडितजी की किताबों में और जो एक बात देखने में आती है वह यह है कि उनके भजनों और गीतों का विन्यास (setting) बड़ा सुन्दर और सर्वथा मौलिक (original) होता है। ऐसी सुन्दर और मधुर कल्पना बहुत कम सुनने में आती है। उनके "अबकी टेक हमारी, मैय्या मोरी मैं नहिं माखन खायो, म्हाने चाकर राखो जी, जय जगदीश हरे," इत्यादि भजनों से और नये नये तरानों से उनके अद्‌भुत कल्पना-शक्ति का थोड़ा बहुत परिचय मिलता है। गुरु से घण्टा, दो घण्टा हर रोज़ गाना सीखकर स्वतंत्र रीति से उस पाठ को तैयार करने में विद्यार्थियों को किताबों से बड़ी से बड़ी सहायता मिल सकती है। पहले जो संगीत विद्या कष्ट साध्य या यों कहिए कि लगभग असाध्य सी थी वह अब बहुत सुलभ हो गई। परन्तु ऐसा कोई न समझे कि

नोट - स्वरलिपि का शोध पंडितजी के पहले बडौदा रियासत के दरबार गवैये मौलाबख़्शजी ने और बंगला भाषा में गोस्वामी और राजा शौरिन्द्र मोहन ठाकुर ने किया था, किंतु उसका प्रत्यक्ष व्यवहार और प्रचार अधिकतर पंडितजी के ही अविरत परिश्रम का फल है। अतः स्वरलिपि के प्रचार का शोध, प्रचार में लाने का श्रेय श्रद्धेय पंडितजी को ही प्राप्त है।

स्वरलिपि के प्रचार से गुरु का शिक्षण, गले की प्राकृतिक अनुकूलता और ग्राहकशक्ति की क़ीमत कम हो गई। लेकिन यों समझना चाहिए कि पहले जो संगीत विद्या परावलम्बी थी वह कुछ नोटेशन और किताबों से स्वावलम्बी हो गई। यह पंडितजी का दूसरा सराहनीय कार्य था।

तीसरा प्रशंसनीय कार्य

पहले मै लिख चुका हूँ कि उस वक्त गवैयों को और संगीतज्ञों को मान और इज़्ज़त नहीं दी जाती थी। गवैयों का कोई दर्जा ही न समझे जाने के लिए प्रायः तीन कारण थे : –

(1) गवैयों की व्यसनाधीनता

(2) गानों में अनुचित श्रृंगार रस का प्राधान्य।

(3) वारांगनाओं का सहवास।

इन्ही तीनों कारणों के हटाने की चेष्टा पंडितजी ने की। पंडितजी के पहले संगीत प्रचार के साधन भी सीमित थे। जलसे करने की प्रणाली उन्होंने प्रथम शुरू की। भारतवर्ष में जब पंडितजी भ्रमण करते थे तब वे गायन के जलसे, रामायण प्रवचन, कीर्तन, व्याख्यान और जगह जगह संगीत परिषदों का आयोजन करते थे। जलसे ठीक समय पर शुरू करने में और उन्हें चित्ताकर्षक बनाने में उन्हें बहुत सोचना पड़ता था। क्योंकि जलसे में उपस्थित होने वाले सब लोग उच्च संगीत के जानने वाले न होने के कारण हल्के, माध्यमिक और उच्च संगीत के नमूने उनको जलसों में रखने पड़ते थे। जलसों का हर एक कार्यक्रम ठीक समय पर चालू होता था। समय का ध्यान उनको सदा रहता था। जलसों में सितार, सारंगी, दिलरुबा, बेला, बाँसुरी, सरोद, सारमण्डल जलतरंग, नल तरंग, काष्ठ तरंग, तबला इत्यादि वाद्यों का सामुदायिक वृन्द-वादन की कल्पना सर्वप्रथम उन्हीं की ही थी। वृन्द-वादन में पाश्चात्य संगीत का थोड़ा सा हार्मनी (Harmony) का नमूना दिखलाने के लिए अलग अलग वाद्य जब सा, ग, प, नी वगैरह स्वरों में मिलाकर बजाये जाते थे, तब भारतीय लोगों को तथा अँग्रेज़ों को भी कर्ण-मधुर लगता था। जब कभी पाश्चात्य प्रवासी बम्बई आकर हिन्दुस्तानी-संगीत सुनने की इच्छा प्रकट

करते थे तब उनको गांधर्व महाविद्यालय में थोड़े बहुत अंशों में सभी वाद्यों और गाने का स्वरूप देखने को मिलता था।

पंडितजी भी बड़ी खुशी से उनको भारतीय संगीत समझाने के लिए सदैव तैयार रहते थे। क़रीब क़रीब हर एक महीने में एक-दूसरा कार्यक्रम दूसरे देश वालों के लिए होता था। तबला-तरंग का बजाना प्रथम विद्यालय में ही शुरू हुआ। यह वाद्य अंग्रेज़ों को बहुत ही पसंद आता है। संगीत के साथ फ्लैग-ड्रिल, क्लब ड्रिल, बारबेल ड्रिल इत्यादि व्यायाम कराना उन्हीं की ही कल्पना थी। मानव-जीवन के हर एक अंगविक्षेप में संगीत भरना चाहिये ऐसी उनकी भव्य इच्छा थी। इससे मालूम होता है कि पंडितजी केवल कूप-मण्डूक वृत्ति के नहीं थे। सन 1917 में बम्बई प्रान्त में बॅरिस्टर जयकर ऐसे माननीय व्यक्ति की अध्यक्षता में पंडितजी का प्रथम परिषद का विराट आयोजन कराना सिद्ध करता है कि वे संगीत के बड़े सुधारक भी थे।

विद्यालय चलाने में उनका अनुशासन बड़ा कड़ा रहता था। हर एक शिक्षक को साफ़ और अच्छे कपड़े पहन कर ठीक समय पर श्रेणी शिक्षण में लग जाना अनिवार्य था। शालीनता और नम्रता हर एक अध्यापक में होनी चाहिये थी। विद्यालय में सुपारी खाने तक के व्यसन की मुमानियत थी। ये सब पंडितजी की आज्ञायें थीं और इनके पालन करने में सख़्त ताकीद रक्खी जाती थी। अब तक गवैयों की तबीयत के बारे में बड़ी बदनामी थी। यह दोष उन्होंने अपने शिष्यों में आने नही दिया। गायन सुनने के लिए यदि कोई सज्जन उनके पास जाते तो कभी कभी बुख़ार में भी उन्होंने उन्हें गाना सुनाया। इस लेखक को स्वयं भी इस बात का कठिन अनुभव कई बार करना पड़ा है। उनका आदेश था कि उनके शिष्यों में से कोई वारांगना की ट्यूशन न करे, न उनका सहवास ही करे। उस वक़्त का गायन अनुचित श्रृंगार रस से भरा हुआ था। यह सोचकर पंडितजी ने उच्च संगीत (Classical music) की तर्ज़ें (Composition) और भक्त सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास, मीराबाई इत्यादि संत लोगों की ओजस्विनी कविता, सोने में सुहागे की भाँति मिलाकर अच्छे अच्छे कुटुम्बों में स्त्री, पुरुषों को गायन सीखने और सिखलाने में आपने एक बड़ी भारी सुविधा कर दी। इस प्रकार से उन्होंने उपरोक्त तीन अवगुणों को हटा कर अपना संगीत सात्विक नींव पर खड़ा कर दिया। इस सुधार से सर्व-साधारण जनता भी संगीत-कला की ओर सन्मान की दृष्टि से देखने

लगी। खुद पंडितजी भी किन्हीं विशिष्ट प्रसंगों पर मान, सन्मान के बारे में योग्य शिकायत करके श्रीमन्त, सरदार, राजे, महाराजे इत्यादि से बहस करते, तो कभी ज़बरदस्ती से गवैयों का मान रखवाने के लिए झगड़ते भी थे। सन 1923 ई. की काकीनाडा काँग्रेस में पंडितजी को बुलाया गया था। वहाँ एक अजीब सा नया कायदा निकल पड़ा कि गाने के साथ तानपुरा, तबला इत्यादि बाजे न बजाये जाँयें। पंडितजी जब काँग्रेस पण्डाल में जाने लगे तब उनके साथ वाद्य ले जाने की मनाही हो गई। पंडितजी धोखे से वाद्य लेकर पण्डाल में घुस तो गए, किंतु जब स्टेज पर वे अपना गाना "भारत हमारा देश है" शुरू करने ही वाले थे तब काँग्रेस प्रेसीडेण्ट स्वर्गीय मौलाना मुहम्मदअली साहब ने उनको वाद्य बजाने से रोक दिया। पंडितजी अब तो चुप न रह सके। उनके चेहरे पर गम्भीरता की क्रोधमिश्रित झलक दिखलाई पड़ी उन्होंने कहा कि "आपने मुझे गाने के लिए बुलाया है और जब मैं गाऊँगा तब वाद्य के सहित ही गाऊँगा। यह कौन सा क़ायदा है कि चित्रकार से अच्छी तस्वीर बनाने को तो कहा जाय परन्तु ब्रश और रंग को छूने से रोका जाय। जैसे चित्रकार रंग और ब्रश को मानते हैं, वैसे ही हम गाने वाले वाद्य को मानते हैं।" इस तरह बहुत बहस होने के पश्चात अन्त में पंडितजी की ही विजय हुई और काँग्रेस के तीनों दिन बड़ी शान के साथ पंडितजी वाद्य के साथ गाते रहे। यह परिणाम पंडितजी के धैर्य, प्रसंगप्रधान और हिम्मत का था, नहीं तो कोई नरम गवैया चुपके से प्रेसीडेण्ट की बात मानकर वाद्य के महत्त्व को एकदम गिरा कर सम्भव है अपमानित होता। इस प्रकार से संगीत का मान रखवाने में उनको हमेशा झगड़ना पड़ता था। अब तक सुशिक्षित जनता में संगीत और गवैयों के बारे में जो घृणा थी वह हटाकर और अन्य कला और विद्या के माफ़िक इस संगीत का महत्त्व और इज़्ज़त जनता में बढ़ाने का सर्व श्रेय प्रथम पंडितजी को मिलता है। निस्सन्देह यह उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण तीसरी बात है।

गाने का भजन में पर्यवसान, या गवैये से भगवद्-भक्त

पंडितजी ने प्रथम दस बारह साल तक पंजाब और उत्तरी भारत में संगीत-प्रचार करने के बाद सन 1907 में बम्बई में विद्यालय की एक शाखा खोल दी। बम्बई विद्यालय का एक काल ऐसा उन्नत था कि हररोज़ 350 या 400 विद्यार्थी (जिनमें

बालक बालिकायें दोनों सम्मिलित थे) पढ़ने आते थे। पंडितजी ने बहुत धन कमाया परन्तु आपने उस धन को अपने घरवालों के लिए संचित नहीं किया वरन् समस्त परोपकार और संगीत प्रचार में व्यय कर दिया। पंडितजी ने अपने गाने की क़ीमत एक चवन्नी से साढ़े चार हज़ार रुपये तक बढ़ाई। भरतपुर और नाभा के महाराज से उपर्युक्त धन उन्हें मिला था। एक वक्त चालीस-चालीस, पचास-पचास ग़रीब विद्यार्थियों का पालन-पोषण बम्बई जैसे मँहगे शहर में करना और उनकी विद्या का प्रबंध करना और उन्हें आदमी बनाना यह कोई छोटा सा स्वार्थत्याग नहीं है। अन्त में उनकी प्रवृत्ति ईश्वर भजन की ओर लगी। पंजाब और उत्तरी-भारत में रहने के कारण हिन्दी-भाषा और उसके ग्रन्थों के प्रति उनकी प्रीति बहुत बढ़ गई थी। उस समय वे तुलसी रामायण, भगवत्-गीता, सूरसागर इत्यादि ग्रन्थों का कीर्तन-प्रवचन किया करते थे। आगे चलकर उनके जलसों में अधिक कीर्तन, रामायण आदि के ही कार्यक्रम चलते थे। ईश्वर-भक्ति में तल्लीन हो कर जब मधुर संगीत के साथ "रघुपति राघव राजाराम, पतितपावन सीताराम" यह मंत्र गाकर वे नाचते थे तब अत्यन्त नास्तिक भी आस्तिक बन जाते थे। उनकी आवाज़ बड़ी होने पर बहुत मीठी थी। जब कभी वे तार के पंचम व षड्ज को कुछ देर तक खींचते थे तो आगे की मोमबत्ती या दिया हवा के दबाव से कुछ बुझ सा जाता था और सुनने वालों पर रोमांच खड़े रहते थे। जिसने उनको सन 1925 के कानपुर काँग्रेस में 'भारत हमारा देश है' यह गाना गाते हुये सुना है उनके कानों में वह मीठी और सुरीली आवाज़ अभी तक गूंजती होगी।

उनका स्वभाव बड़ा सरल, ममतायुक्त और मधुर था। उन्होंने पूरा भारतवर्ष, बर्मा, सीलोन वगैरह देशों का पर्यटन किया और उनका पाश्चात्य देशों के भ्रमण करने का भी विचार था, परन्तु दुर्भाग्यवश पूर्ण न हो सका। तथापि सन्तोष की बात है कि पंडितजी नहीं, तो उनके शिष्यों में से पं. ओंकार नाथ, प्रो. बी.आर. देवधर, श्रीयुत विष्णुदास शिराली ने युरोप एवं अमरीका जाकर 'भारतीय संगीत' का झण्ड़ा फहराया है।

पंडितजी के काल के, उनकी ही योग्यता के बराबरी के कै. भास्करबुवा बखले, स्व. शंकर पंडित, स्व. बालकृष्णबुवा, कै. देवल, खाँ साहेब अब्दुल करीम खाँ, अलादियाँ खाँ, श्री रामकृष्णबुवा वझे, श्री भातखंडे वगैरह संगीतज्ञ और

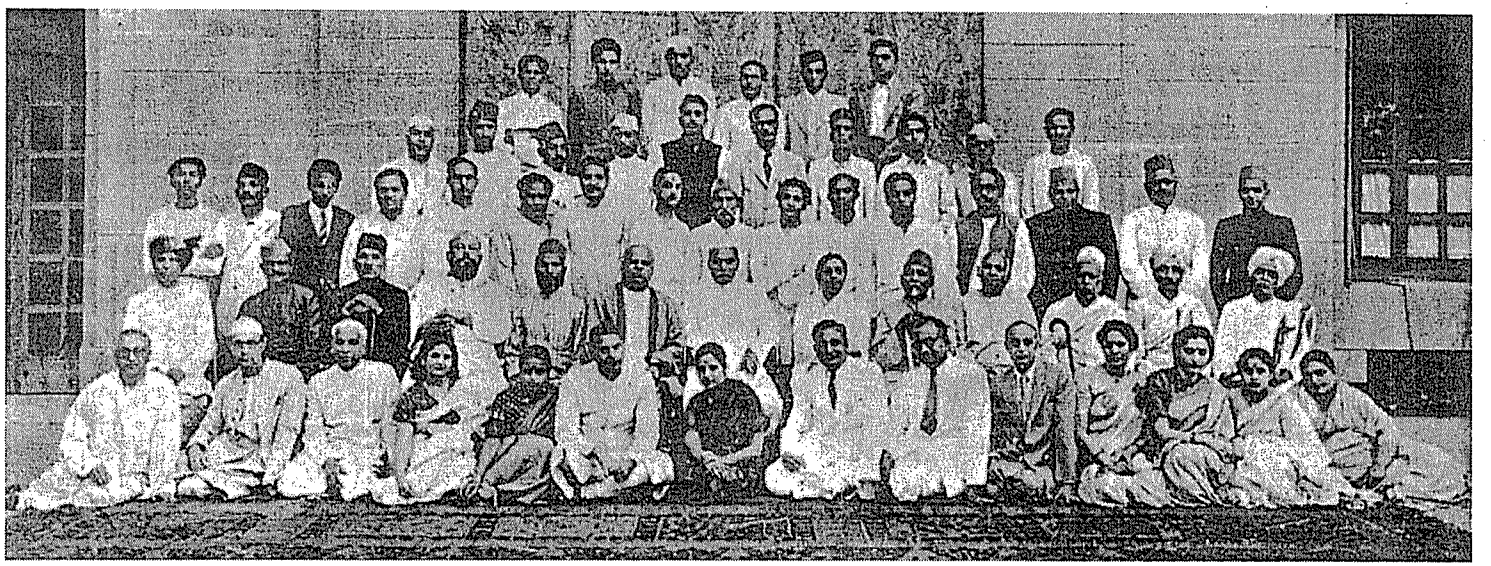

सन 1951 ई. के लगभग गांधर्व महाविद्यालय के स्वर्ण-जयंती समारोह में देश के मूर्धन्य संगीतकारों ने भाग लिया था, उसी अवसर का एक दुर्लभ चित्र।
नीचे से पहली पंक्ति (बाएँ से) – 1. अज्ञात, 2. बद्रीप्रसाद शुंगलू, 3. लाला हंसराज गुप्ता, 4. अज्ञात, 5. श्रीमती शीला भरतराम, 6. पं. हक्सर, 7. श्रीमती सुमित्रा चरतराम, 8. डा. एन. भट्ट, 9. बालकृष्ण राव, 10. शिवराज बहादूर, 11-12-13. अज्ञात, 14. निर्मला जोशी
दूसरी पंक्ति (कुर्सी पर बैठे हुए) – 1. पं. वामनराव पाध्ये (पं. विष्णु दिगंबरजी के शिष्य), 2. निसारहुसैन खाँ, 3. अहमदजान थिरकवा, 4. उ. हाफिजअली खाँ, 5. मुश्ताकहुसेन खाँ, 6. पं. ओम्कारनाथ ठाकुर, 7. डा. राजेंद्रप्रसाद (तत्कालीन राष्ट्रपति), 8. केसरबाई केरकर, 9. उ. अलाउद्दीन खाँ, 10. कंठे महाराज, 11. गोविंदराव बुरहानपुरकर (पखावजी), 12. मिरासी बुवा, 13. अनंतमनोहर जोशी
तीसरी पंक्ति – 1. गुलाममुस्तफा, 2. अलताफहुसैन, 3. गोविंदप्रसाद जयपुरवाले, 4. करामतुल्ला खाँ, 5. राधिकामोहन मोइत्रा, 6. इलियास खाँ (सितार-वादक), 7. बिसमिल्लाह खाँ, 8. किशन महाराज, 9. अलताफहुसेन खाँ (खुर्जावाले), 10. रविशंकर, 11. अलीअकबर खाँ, 12. विलायत खाँ, 13. ज्ञानप्रकाश घोष, 14. पं. नारायणराव व्यास, 15. विनायकराव पटवर्धन, 16. डी.वी. पलुस्कर
चौथी पंक्ति – प्रथम पाँच अज्ञात, 6. बी.आर. देवधर, 7. अज्ञात, 8. थिरकवा साहब के पुत्र, 9. शंकरराव मोडक, 10. शंकरराव बोडस
पाँचवी पंक्ति – 1. रावजी भाई पटेल, 2. विनयचंद्र मौद्गल्य, 3. पुरुषोत्तम गांधी (महात्मा गांधी के पौत्र), 4. प्राणलाल शाह, 5. शंकरराव सप्रे, 6. वसंतराव राजोपाध्ये

गवैयों के एकनिष्ठ प्रयत्न ही, भारतीय संगीत की उन्नति करने के लिए कारणीभूत हुये हैं यह निर्विवाद है। कानपुर में भी संगीत की चर्चा (1925 ई.) पंडितजी के आने से ही दुगने ज़ोर से शुरू हो गई। पंडितजी हमारे समाज के संरक्षक (Patron) थे। उन्हीं के सहायता से समाज ने द्वितीय प्रान्तीय परिषद् का आयोजन 1929 इ. में प्रारम्भ किया था। प्रथम कानपुर ज़िला संगीत के संयोजक भी आप ही थे और अन्त तक आपने समाज पर अपनी कृपा-दृष्टि बनायें रक्खी।

अब उनकी 'श्री राम-नाम आधार-मण्डल' नाम की संस्था नासिक पञ्चवटी में है जहाँ कि 'रघुपति राघव राजा राम' का जप रात दिन 24 घण्टे होता है और ग़रीब विद्यार्थियों का पालनपोषण भी यही संस्था करती है। यह संस्था ट्रस्टी के सुपुर्द कर दी गई है। पंडितजी के कुल ग्यारह अपत्त्य हुए, किंतु दैववशात् अब केवल एक ही लड़का जीवित है। परमात्मा उसे चिरंजीवी और संगीत सेवा में समर्थ करे। उनकी स्त्री रमाबाई भी पंडितजी के ही समान सरल, मितभाषी, शुद्ध तथा सद्हृदय वाली हैं। वह नासिक पञ्चवटी में रहकर आश्रम का काम देखती हैं। पंडितजी जैसे नर-रत्न युगान्तरों में होते हैं। यह भारत का दुर्भाग्य है जो ऐसा ओजस्वी, देशभक्त, प्रभुभक्त गवैया पाकर उसने क़रीब क़रीब 60 वर्ष के छोटे से काल में ही खो दिया।

कानपुर संगीत समाज – 1935

⌘

भारतीय संगीत का पुनरुद्धार

विभिन्न प्रयासों का ऐतिहासिक विवरण

कवि-श्रेष्ठ स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुरजी ने बोलपुर के पास शान्ति निकेतन की स्थापना की। उस समय नवयुवक नेता पं. जवाहरलालजी उक्त संस्था देखने के लिए जब वहाँ गये, तब वहाँ का लालित्य-पूर्ण सांस्कृतिक वातावरण देखने के बाद वे गुरुदेव से पूछते हैं, "जब पूरा देश स्वातंत्र्यप्राप्ति के लिए जगमगा रहा है, गुरुदेवजी आप को यह संगीत-नृत्य-और नाटक कैसे भाते हैं? मैं नहीं समझ पाता कि आपका मन इनमें कैसे रमता है? यह सब बातें तो फ़िज़ूल सी लगती है।"

गुरुदेव बोले – "भैया, क्या देश की स्वतंत्रता निरी मिट्टी, पत्थर या रोटी कपड़े में रहती है?

हमारे देश को भौतिक (Material) स्वातंत्र्य मिलने से काम नहीं चलेगा। देश स्वतंत्र तब समझा जायेगा जब उस देश की विद्या, भाषा, साहित्य, ललित कला इत्यादि से बनी हुई संस्कृति स्वतंत्र होगी। केवल नीरस स्मशान स्वातंत्र्य को क्या प्राप्त करना है? पूर्ण सांस्कृतिक भारत को विदेशी श्रृंखला से मुक्त करना है, इसलिए मेरे जैसे जो लोग इन्हीं भारतीय साहित्य, संगीत, नाटक, नृत्य इत्यादि कलाओं को जीवित रखने के लिए प्रयत्नशील हैं, वे भी भारत के स्वातंत्र्य के सैनिक गिने जा सकते हैं।" गुरुदेव के कथन को पंडितजी के नवयुवक मन ने स्वीकार कर लिया। स्वातंत्र्यप्राप्ति के पूर्व भारतीय संगीत की स्थिति कुछ अनाथ और निराशा-पूर्ण इस माने में थी, कि न सरकार, न जनता ही इसे कृपापूर्ण दृष्टि से देखती थी।

भारत पर ब्रिटिश राज्य होने के कारण भौतिक तथा वैज्ञानिक आविष्कारों, नई राज्य शासन व्यवस्था, पाश्चात्य साहित्य और अनोखे अनुशासन से जनता प्रभावित होकर, अपने उच्च साहित्य और कला के प्रति उदासीन सी थी। उस युग में ललित कलाओं को जीवित रखने का काम रियासतों के उस्तादों ने थोड़ा कुछ किया। किंतु इनका उत्थान बंगाल में राजा सौरेन्द्र मोहन टैगोर और कविवर्य श्री रवीन्द्रनाथजी, और दक्षिण भारत में स्व. पं. विष्णु दिगम्बर, पं. भातखंडे,

मौलाबख़्श आदि महाभागों ने किया। उत्तर भारत एक समय में संगीत का घर समझा जाता था, किंतु इसी शताब्दी के पूर्वार्ध में वह इस कला में पिछड़ा हुआ था। इसके कुछ कारण भी थे। जैसे : –

(1) गायकों की व्यसनाधीनता और शिक्षण का अभाव।

(2) संगीत का व्यवसाय करने वालों का वारांगनाओं से सहवास।

(3) संगीत में साहित्य का अभाव और उत्तान श्रृंगार का प्राधान्य।

(4) राजकीय सहायता का अभाव इत्यादि।

यह स्थिति थोड़े बहुत प्रमाण में पूरे भारतवर्ष में ही थी। मद्रास और मैसूर की तरफ संगीत के प्रति इतनी रूढ़िवादिता नहीं थी।

संगीत विद्यालयों की स्थापना

इसी शताब्दी के पूर्वार्ध में संगीत विद्यालय खोलने का सर्वप्रथम श्रेय स्व. पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्करजी को देना होगा। पाँच मई सन 1901 में लाहौर में गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना हुई। फिर स्वर्गीय भातखंडेजी के प्रयत्न से ग्वालियर में 'माधव संगीत विद्यालय', बडौदा में 'स्टेट कालेज ऑफ़ म्युज़िक' और 1926 में लखनऊ में 'मैरिस कॉलेज ऑफ़ हिन्दुस्तानी म्युज़िक' खोले गए। इसी वर्ष प्रयाग में संगीत समिती की ओर से कानपुर में दिनांक 8 जनवरी 1927 में कानपुर संगीत समाज की स्थापना भी हुई। फिर आगे चलकर बड़े-बड़े शहरों में संगीत विद्यालय खुलने लगे। किंतु विद्यालयों को सरकारी मान्यता न मिलने के कारण सभी विद्यालयों में संगीत-शिक्षा-प्रणाली में एकसूत्रता नहीं आने पाई।

शिक्षण-संस्थाओं में संगीत का स्थान

अंग्रेज़ी शासन-काल में स्कूलों में संगीत को कोई स्थान ही नहीं था। सर्वप्रथम शिक्षण-संस्था में संगीत विषय प्रारम्भ करने का श्रेय स्वर्गीय डा. एनी बेसेन्ट को मिलता है। उन्होंने 1905 के लगभग बनारस में हिन्दू स्कूल में संगीत अन्य विषयों के साथ पढ़ाये जाने का प्रबन्ध किया। वहाँ के संगीत शिक्षक श्री श्रीकृष्ण हेर्लेकरजी को डा. बेसेन्ट ने पं. विष्णु दिगम्बरजी से मिलवाया था तथा 1916 में प्रयाग में स्व. डा. रणजीत सिंहजी के प्रयत्न से कायस्थ पाठशाला में

श्री. वि.अ. कशालकरजी नियुक्त हुए। सन 1917 में साबरमती आश्रम में पूज्य महात्माजी ने संगीत-शास्त्री स्व. नारायणराव खरेजी को नियुक्त किया और कानपुर में 1926 में स्व. देवीप्रसाद खत्रीजी के अनुरोध से पं. पृथ्वीनाथ स्कूल में संगीत प्रारंभ हुआ। इस समय तक क़रीब-क़रीब सभी शिक्षण संस्थाओं में संगीत पढ़ाया जाने लगा है। किंतु कई संस्थाओं में संगीत को जो सम्मानित स्थान मिलना चाहिए वह नहीं दिया जाता है, यह खेद का विषय है।

इसके विषय में निम्नलिखित बात देखने योग्य है। पीलीभीत के स्वर्गीय पं. बृजनन्दन प्रसाद मिश्रजी ने जनवरी 29 सन 1924 को संयुक्त प्रान्त की लेजिस्लेटिव कौन्सिल में एक यह प्रस्ताव रखा कि "हिन्दुस्तानी संगीत का एक ट्रेनिंग स्कूल खोला जाय।" स्वर्गीय पंडितजी से उस समय कई मेम्बरों ने पूछा कि "आप यह प्रस्ताव गम्भीरता से या मज़ाक में रख रहे हैं?" बहुत मेम्बरों ने विरोध भी किया, किंतु डायरेक्टर स्व. मैकेंज़ी ने उक्त प्रस्ताव का समर्थन किया और उनके ही प्रभाव से आगे चलकर 1936 से हाईस्कूल में और 1940 में इंटरमीडिएट में संगीत को ऐच्छिक विषय का स्थान प्राप्त हुआ।

स्व. भातखंडेजी के प्रभाव से काशी विश्वविद्यालय में और डा. दक्षिणारंजन भट्टाचार्यजी के प्रयत्नों द्वारा इलाहाबाद युनिवर्सिटी में भी संगीत विषय को मान्यता मिली। सन 1949 से आगरा युनिवर्सिटी में भी संगीत प्रारम्भ हुआ। इसका कुछ श्रेय प्रिन्सिपल श्री ठाकुर जयदेवसिंह को भी है। अब भारत में अनेक विश्वविद्यालयों में संगीत की स्थापना हुई है। किंतु एम.ए. के लिए अब तक संगीत को स्थान नहीं मिल रहा है।

संगीत का साहित्य

प्रथम स्वरलिपि का आविष्कार बंगाल में श्री शौरिन्द्र मोहन ठाकुर ने और बडौदा में मौलाबख़्श ने किया। किंतु स्वरलिपि के प्रचार और व्यवहार करने में पं. विष्णु दिगम्बर और पं. विष्णु नारायण भातखंडे के अविरत परिश्रम कारणीभूत हैं। संगीत विषय की मासिक पत्रिका का अभाव हास्यरस के 'संगीत' ने दूर किया। पूना में सन 1934 के लगभग 'भारतीय संगीत' नाम का द्वैमासिक कई साल तक चल कर बन्द हो गया।

सन 1947 से गांधर्व महाविद्यालय मंडल की तरफ से 'संगीत कला विहार' नामक संगीत मासिक, संगीत की सेवा अव्याहत कर रहा है।

गत दो वर्षों से श्री रातंजनकरजी के संपादकत्व में 'लक्ष्य संगीत' नाम के संगीत के त्रैमासिक का उद्‌भव हुआ; किंतु इन तीनों पत्रिकाओं में मौलिकता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। विश्वास है कि अनुभव से और जनता में रुचि बढ़ जाने से उपरोक्त पत्रिकाओं का स्तर बढ़ जायेगा और जनता भी अधिक संख्या में उन्हें पढ़ने लगेगी।

स्वरलिपि में लिखी हुई कई किताबें पं. विष्णु दिगम्बरजी की हैं; पं. भातखंडेजी का इस विषय में प्रयास अवर्णनीय है। उन्होंने अपने कई प्रयासों के बाद और पुराने ग्रन्थों के अवलोकन के बाद शास्त्रीय और क्रियात्मक संगीत पर अनेक प्रगल्भ ग्रन्थ लिखे हैं। उनके ग्रन्थों के पहले इतने अधिकारी ग्रन्थ, संगीत पर किसी ने नहीं लिखे थे।

स्वतंत्रता के बाद

सन 1947 के 15 अगस्त को भारत स्वतंत्र हुआ। अब यह देखना है कि सरकार की तरफ से इस कला को क्या प्रोत्साहन मिला।

सर्वप्रथम केन्द्रीय सरकार ने लगभग 1950 या 1951 में 'संगीत नाटक अकादमी' की स्थापना की। इस अकादमी ने भारत की संगीत, नाटक और नृत्य-कलाओं की संस्था की जानकारी प्राप्त करके, कई शर्तों पर उन्हें मान्यता देना प्रारम्भ किया।

गत तीन वर्षों से सरकार कई विविक्षित कार्यों के लिए अनुदान (Grants) देने लगी है। होनहार नवयुवक और युवतियों को मासिक 250 रु. स्कॉलरशिप देने की प्रथा जारी की है, ताकि गरीब और होनहार विद्यार्थी अपनी कला बढ़ावें और उसमें गहराई प्राप्त करके इस पुरानी विद्या को सुरक्षित रखने में सहायता करें।

वृद्ध और नामवन्त कलाकारों को राष्ट्रपति द्वारा सम्मान और पुरस्कार देने की अभिनन्दनीय प्रथा प्रस्थापित की गई।

लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत की दुर्लभ गायकी और ट्यून रेकॉर्ड करके उनका एक अद्वितीय संग्रह करने का प्रयत्न हो रहा है।

'नाटक' का सर्वांगपूर्ण शिक्षण देने के लिए एक राष्ट्रीय नाटक शाला (National School of Drama) शीघ्र ही प्रस्थापित होने जा रही है।

भारत को सर्वत्र एक स्वरलिपि प्रदान करने के लिए भारत के भिन्न-भिन्न शैलियों के संगीत मर्मज्ञों का परामर्श लेना प्रारम्भ हुआ है और आशा है कि निकट भविष्य में राष्ट्रीय-स्वरलिपि का निर्माण होगा।

यह सब कार्य सराहनीय हैं ही और इनके लिए भारतीय संगीतज्ञ और जनता, सरकार की प्रशंसा करेगी और करती रहेगी। किंतु संगीत के शिक्षण में मानदंड (Standard) का भी काम आगे लेना आवश्यक है।

ऑल इन्डिया रेडियो द्वारा संगीत सेवा

रेडियो में जो, गत तीन चार वर्षों से संगीत के प्रति और विशेषकर शास्त्रीय संगीत के प्रति सुधार और प्रोत्साहन मिल रहा है, उसका सब श्रेय माननीय डा. केसकरसाहब को है। डा. केसकरजी के पहले इतने सुधार रेडियो में कभी नहीं हुए थे। अब यह बात दूसरी है कि सभी सुधार जैसे होने चाहिए वैसे, और शीघ्रता से नहीं हो रहे हैं। किंतु (1) प्रत्येक शनिवार को रात को राष्ट्रीय कार्यक्रम (2) दीवाली के अवसर पर रेडियो संगीत सम्मेलन (3) रेडियो द्वारा संगीत प्रतियोगिताएँ (4) शास्त्रीय संगीत से अवगुण्ठित नए साहित्यिक गीतों और भजन की उत्पत्ति, (5) प्रगतिशील (Progressive) संगीतज्ञों को अच्छे वेतन की नौकरियाँ (6) कलावंतों की श्रवण कसौटी की व्यवस्था (7) प्रादेशिक और लोक-संगीत को रेडियो में अधिक समय और स्थान (8) भारत भर में रेडियो स्टेशनों की श्रृंखला, हिन्दुस्थानी वृन्द वादन (Orchestra) का निर्माण इत्यादि कार्य सचमुच प्रशंसनीय हैं।

संगीत परिषदों की बदहज़मी

संगीत सम्मेलन या परिषदों का उद्देश्य है कि सर्वसाधारण जनता को ऊँचे कलाकारों की कला का आस्वाद आसानी से मिले और उसके ज़रिये जनता में

संगीत का प्रसार और प्रचार हो। पहले राजे-महाराजे या धनी लोग ही उस्तादी संगीत सुन सकते थे, आम जनता उससे वंचित रहती थी। सन 1916 में प्रथम बार बड़ौदा में बृहत रूप से संगीत परिषद का आयोजन, पं. भातखंडेजी ने स्वर्गीय श्रीमान सयाजीराव गायकवाड की संरक्षता में किया। उसके बाद पं. विष्णु दिगम्बरजी ने सन 1917 से 1921 तक बम्बई में गांधर्व महाविद्यालय की तरफ से पाँच बड़ी परिषदों का आयोजन किया। उन परिषदों में गायन-वादन के जलसे के अतिरिक्त संगीत शास्त्र पर चर्चा होकर कुछ उपयुक्त निर्णय भी लिये जाते थे। ऐसी परिषदों से अलग-अलग घराने के उस्ताद और कलाकारों को आपस में मिलने का और परस्पर गायन-वादन सुनने का मौका मिलता था। संगीत के प्रायोगिक और शास्त्रीय विषयों पर विचार विमर्श होने से संगीत की कुछ कठिन गुत्थियों को सुलझाने में ऐसी परिषदें मदद करती थीं। किंतु दूसरे महायुद्ध से संगीत परिषदों की इतनी भरमार हुई कि आगे चल कर परिषदों ने टिकट लगाकर सस्ते संगीत के जलसों, लाईट म्युज़िक की महफ़िल का रूप धारण किया। कहीं कहीं पर आमंत्रित कलाकारों का फ़ायदा उठाकर आयोजक लोगों ने अपनी जेब, कलाकारों की कला बेंचकर भर ली। आजकल बेकार सुशिक्षित और फ़ैशनेबल लोगों द्वारा ऐसी परिषदों के आयोजन का एक प्रकार का धन्धा ही हो गया है। ऐसे आयोजन-कर्ता न संगीत जानते हैं, न उन्हें संगीत मे रुचि होती है, वे सुन्दर या आकर्षक कार्यक्रम ही बना सकते हैं; न किसी अच्छे हेतु से प्रेरित होकर संगीत की सेवा ही करना चाहते हैं। कहीं कहीं पर अपने पदों का अनुचित फ़ायदा उठाकर दो या तीन दिन के संगीत तमाशों के लिए बहुत धन इकट्ठा कर लेना ऐसे अधिकारियों के लिए खेल-सा लगता है। इस अनुचित प्रथा से जो लोग सचमुच जनकल्याण या किसी संगीत संस्था की मदद के लिए संगीत सम्मेलनों का आयोजन करते हैं वह धनसंचय में कामयाब नहीं होते हैं। कारण यह है कि कलाकार भी अब सचेत हो गए हैं।

कलाकारों में त्याग की भावना

कई कलाकारों ने अपनी फ़ीस इतनी बढ़ा दी है, कि वह कभी-कभी प्रमाण से बाहर मालूम होती है। कलाकारों को भी समझना चाहिए कि वे अपनी कला को बाज़ार में दूसरी वस्तुओं के सदृश न बेचा करें। उन्हें चाहिए कि योग्य-अयोग्य,

उचित अनुचित प्रसंग और स्थिती देखकर, अपनी दक्षिणा घटाएँ अथवा बढाएँ। खास संगीत-उत्थान के कार्यों में कलाकारों को स्वेच्छित रूप से ही हाथ बटाना चाहिए।

संगीत-शिक्षकों पर संगीत में सर्वांगीण सात्विकता लाने का उत्तरदायित्व होता है। वे अपनी कला को बढ़ाने की अपेक्षा धन कमाने में समय अधिक व्यतीत करते हैं; यह लक्षण ठीक नहीं है। उच्च आदर्श और महत्त्वाकांक्षा, शिक्षकों में कम होती जा रही है और इसी का परिणाम आज-कल शिष्यों में गुरु के प्रति श्रद्धा का अभाव दिखाई देता है। अब यह समय आया है कि पूरे राष्ट्र में संगीतज्ञों का एक बृहत् राष्ट्रीय संघटन बन जाय और उसी के बल द्वारा संगीत का भविष्य प्रवास 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' के तत्त्व पर हो।

गांधी संगीत विद्यालय पत्रिका, 1956

⌘

शास्त्रीय राग-संगीत को लोकप्रिय बनाने के लिए

भक्ति संगीत का योगदान

जन-मानस के अनुकूल नवीन संगठित प्रयास आवश्यक

गान-विद्या आर्यों की बहुत प्राचीन विद्या है। इसका तो एक वेद ही अलग है। सामगान 'यज्ञ' का एक आवश्यक अंग माना जाता है। विशेषकर भारतीय प्राचीन साहित्य अधिकतर काव्यमय अर्थात वह मधुर स्वर में गाने योग्य होता है। प्रत्येक भारतीय शास्त्र में, चाहे वह वेद, पुराणादि धार्मिक शास्त्र हों या आयुर्वेद, नीतिशास्त्र, दर्शन, साहित्य, वनस्पति, ज्योतिष किसी भी अन्य शास्त्र में संगीत की महत्ता वर्णित की हुई मिलेगी। भारतीय जीवन में चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामूहिक जीवन हो, यदाकदा संगीत सन्निहित मिलेगा।

प्राचीन काल में इस विद्या की बड़ी उन्नति थी। घर-घर में इसका प्रचार था। (उस काल में 'गंधर्व' नाम की एक जाति विशेष का जन्म हुआ, जो इस कला की उपासना में अपना जीवन बिता देती थी और 'किन्नर' नृत्य में।) गायन और नृत्य के संयोग से प्राचीन काल के संस्कृत-नाटक मधुर होने लगे। नाटकों का प्रचार ढीला पड़ने से यह व्यवसाय पातर, पातुरी या पतुरिया (वेश्या) के हाथ में गया और इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं में इस कला के प्रति उदासीनता छा गई।

यहाँ से प्राचीन संगीत की गुरु-परम्परा को भी क्षति पहुँची और प्राचीन संगीत का कंठस्थ ज्ञान भी लुप्त हुआ। 'गीत गोविन्द' के जैसा गेय साहित्य शब्दात्मक रह गया और उसकी संगीतमयी आत्मा उससे विलग हो गई।

संस्कृत युग के बाद प्राकृत युग आया और उसके बाद वर्तमान हिन्दुस्थानी गायन का युग आया। यह युग विशेषरूप से स्वामी हरिदास तानसेन से प्रारम्भ होता है। स्वरलिपि के अभाव से आज उस युग के प्रत्यक्ष गायन का क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। पता नहीं किस राग में कितना माधुर्य था और वह कैसे पैदा और व्यक्त किया जाता था? व्यक्तिगत प्रदर्शन में कंठ और प्रतिभा, प्रत्येक की स्वतंत्र होती है। यदि दस उस्ताद एक ही राग को अलग-अलग गायें तो राग एक ही होने पर भी प्रत्येक का कंठ अलग होने से और उसकी

प्रस्तुति अलग होने से वह भिन्न प्रकार का लगेगा क्योंकि व्यक्तिगत भाव प्रकट करने के चातुर्य से उसका स्वरूप-माधुर्य अलग हो जाता है। भले ही भारतीय संगीत को सीमित कहा जाये, पर उसमें कल्पना का आधार होने से वह असीम है, अत्यधिक विस्तृत है।

संगीत में साहित्य

संगीत में दो पक्ष हैं। एक स्वर-प्रधान और दूसरा शब्द-प्रधान। इन दोनों का समन्वय 'सुगंधित कांचन' का योग ही संगीत का अन्तिम ध्येय सर्वत्र मान्य है।

संगीत के गीतों के साहित्य में तत्कालीन समाज का सांस्कृतिक इतिहास प्रकट होता है। अतएव वर्तमान हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत साहित्य को देखने से यह आश्चर्य लगता है कि संगीत-मर्मज्ञ सदारंग, अदारंग, मनरंग, हररंग, एकरंग, खुशरंग इत्यादि कवियों को क्या श्रृंगार रस ही संगीत का साहित्य निर्माण करने को मिला था? आधुनिक उत्तर भारतीय संगीत के गेय साहित्य को टटोलने से मालूम होता है कि उस समय कोई पुरुष रात में 'अपने घर में' सोता ही नहीं था और बड़े सबेरे लटपटाते हुए, सिर पर पगड़ी के बदले धोखे से पर-स्त्री की ओढ़नी लपेटे हुये घर आकर वह अपनी स्त्री की डाँट सुनता था। अन्य श्रृंगारिक विषय भी प्रायः ऐसे ही अश्लील हैं, जैसे 'पनघट का वर्णन'; चाहे आज कल शहरों में 'पनघट' क्या चीज़ होती है – मालूम ही न हो। तीसरा विषय है 'कंकर मारकर घड़े फोड़ना'। अब कंकर मारकर घड़े फोड़ने वाले सभी शरारती बच्चे स्कूल में भर्ती कर दिये गये हैं। वैसे ही दही की मटकी फोड़ना, ग्वालिन से शरारत करना, सौत की भर्त्सना करना, अपनी विरहव्यथा का वर्णन इत्यादि विषय ही पक्के गाने के साहित्य में सर्वत्र दिखाई देते हैं।

मैं मानता हूँ कि सौ बरस पहले का विरह बड़ा भयानक होता होगा। क्योंकि पिया के परदेश जाने पर शीघ्र लौटने के लिये न उस समय साधन थे, न डाक, तार की सुविधाएँ थीं। किंतु ऐसे विरह के विषय, अब (Out of date) पुरानी बीती हुई कहानी हो चुके हैं। गायन-विद्या का उद्देश्य कंठ, स्वर, ताल इत्यादि का प्रदर्शन ही नहीं, अपितु इन साधनों की सहायता से आनंदमय संगीत द्वारा मनुष्य के जीवन में उत्तम भावों का समावेश करके सात्त्विक चरित्र-निर्माण करना है।

जिसकी हमारे जीवन में परम आवश्यकता है – ऐसे विषयों के गाने हमें चाहिये। मैं श्रृंगार का विरोधी नहीं हूँ, किंतु श्रृंगार अश्लील अथवा भद्दा न होना चाहिये; चाहे प्राचीन जयदेव जैसे कवि के गीत हों या कुंभनदास या छितर स्वामी इत्यादि ब्रज भाषी कवियों के हों। (कभी-कभी इन कवियों की कविता में गिरधर की श्रृंगारिक लंपटता का चित्र खींचा हुआ देखने से मुझे बड़ा दुख होता है।) शास्त्रीय संगीत के गानों की भाषा और भावों की छीछालेदर हुई मालूम पड़ती है। कहीं-कहीं पक्के गानों में निरर्थक शब्द भरे पड़े मिलते हैं। इसी कारण पिछली शताब्दी में और इस शताब्दी के पूर्वार्ध में सर्वसाधारण जनता इस कला के प्रति उदासीन सी हो गई थी। उनको सुधार करने का प्रथम श्रेय स्व. गु. पं. विष्णु दिगम्बरजी को है। पंडितजी स्वयं कवि न होने के कारण सभी पक्के गानों के साहित्य का परिवर्तन न कर सके, किंतु तुलसी, सूर, मीरा, कबीर, नानक, दादू, तुकाराम, एकनाथ इत्यादि संतों के सात्त्विक और भक्ति-प्रधान गीतों को राग में निबद्ध करके अपने मधुर कण्ठ द्वारा और अपने शिष्यों द्वारा जनता में उन गानों का प्रचार किया। जिसके फलस्वरूप इस शताब्दी में धीरे-धीरे संगीत को जनता में मान-सम्मान का स्थान मिल रहा है।

भक्ति संगीत

भक्तों में अपने आराध्य-देवता के प्रति आत्मसमर्पण की भावना होती है और वह भी निश्चल, निःस्वार्थ, निर्लोभ। भक्ति-मार्ग, मोक्ष-प्राप्ति का सरल और सीधा मार्ग समझा जाता है। भक्ति के अन्तर्गत एकाग्रता, सेवा-भाव, विलीनता इत्यादी गुणों का समावेश होता है। भक्ति में भक्त, भगवान से अनेकों नाते जोड़ता है। जैसे मित्र, सेवक पुजारी, ज्येष्ठ भ्राता, माता-पिता, आराध्य-देवता। कभी कभी उर्दू काव्य में प्रेम का प्रतीक ख़ुदा से या प्रेम करने लायक कोई अन्य व्यक्ति होता है। सन्तों के रचे हुये पद बड़े रोचक और जीवनोपयोगी होते हैं। किंतु मेरा निवेदन है कि समय के बदल जाने पर और समाज दृष्टिकोण बदलने से प्रत्येक चीज़ का मूल्यांकन भी बदल जाता है। अतः जैसे सांसारिक झंझटों से मुक्त होकर विरक्त होना – इस उपदेश से नैराश्यवाद, शिथिलता, कर्तव्य-विमुखता पैदा होती है, वैसे ही ऐसे अतिरेकी (extreme) देवी-देवताओं की प्रार्थना-सम्बन्धी साहित्य की अब इतनी आवश्यकता नहीं है। मैं प्रार्थना गीतों का विरोधी नहीं हूँ, किंतु केवल देवी-

देवताओं की स्तुति और प्रार्थना करने से अब काम नहीं चलेगा। ऐसे गीतों की आयु भी समाप्त होने जा रही है। हम अकर्मण्य होकर केवल देवी-देवताओं की प्रार्थना के बल पर कर्मठ, बलशाली, कर्तृत्ववान नहीं बन सकते। नवीन, प्रचलित और अनुभव-सिद्ध विषयों का गायनोपयोगी साहित्य अब वांछनीय है।

भक्ति-गीतों में मुझे सूरदास, कबीर, मीरा, तुकाराम, तुलसी के गीत पसन्द हैं। सूरदास का बाल-लीला वर्णन, मीरा का अनुपम सेवा-भाव, कबीर का रहस्यवाद, तुकाराम के यथार्थवाद वृत्ति के अभंग, ऐसे साहित्य की आवश्यकता है और उससे शास्त्रीय संगीत के साहित्य की और संगीत की उन्नति हो सकती है। संगीत और साहित्य ये दोनों इतने अभिन्न हैं कि यह नहीं कहा जा सकता इन दोनों का समन्वय किस अनुपात से हो। प्रतिभावान साहित्य को नव-निर्मित और आकर्षक शास्त्रीय संगीत के भिन्न-भिन्न रागों में रचना करना ही अब युग की मांग है।

कवि और संगीतज्ञ

जब तक कवि का गान-विद्या में दखल न हो और संगीतज्ञ को साहित्य से प्रेम न हो, तब तक आदर्श गेय साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। केवल गेय साहित्य का निर्माण होने से भी काम नहीं चलता है। उसी को रस और भावानुकूल संगीत में बिठाना बड़े मौलिक मस्तिष्क का काम है। कवि गेय-गीत रचना के समय छन्द शास्त्र से जरा बाहर आकर जब तक गायकों की कठिनाइयाँ, सहानुभूति से नहीं समझेगा तब तक आदर्श गेय गीत का निर्माण नहीं हो सकता। पक्के गाने छंदशास्त्र से मुक्त होते हैं। कोई चरण छोटा – तो कोई बड़ा इसकी गायक को परवाह नहीं होती। वह अपने आलाप या तान द्वारा खाली जगह भर लेता है। कवि और गायक का एक साथ न होने से, पक्के गानों का उत्तम साहित्य अब तक निर्मित नहीं हो सका। मैं स्वयं साहित्यिक तो नहीं हूँ, किंतु सुना है "खड़ी बोली पक्के गानों के लिये सफल नहीं हो सकती।" केवल गेय-गीतों के साहित्य के लिये खड़ी बोली में स्वतंत्र प्रयोग करने पड़ेंगे। जैसे 'सच्चा' के जगह पर 'साँचि', 'युक्ति' की जगह पर 'जुगत' ऐसे शब्दों का प्रयोग करना उचित होगा। गेय-गीतों में ह्रस्व दीर्घ शब्दों का महत्त्व कम होता है, किंतु गाने की धुन का महत्त्व अधिक

होता है। जो कवि गायन-शास्त्र से अनभिज्ञ है, वह इस कठिनाई का अनुभव नहीं कर सकता; क्योंकि गानों में छन्द की रीति से नहीं, वरन् लय और ताल को देखकर ह्रस्व दीर्घ वर्ण का प्रयोग करना पड़ता है। इसका विचार करने पर हम इस नतीजे पर पहुँच रहे हैं कि सूर, मीरा, तुलसी आदि संत प्रत्यक्ष सभा-चतुर गायक चाहे न हों, किंतु वे गायन-विद्या को ठीक समझते थे और किसी हद तक वे संगीतज्ञ भी थे, जैसा कि उनके गीतों से पता चलता है। इसलिये उनके भक्ति-गीतों से शास्त्रीय संगीत उन्नत हुआ और होता रहेगा।

प्राचीन-काल में संगीत मंदिरों में था। मध्य-काल में वह राज-दरबार में घुसा; तब से गेय साहित्य को क्षति पहुँची। अब वर्तमान युग में वह संगीत जनता में आ रहा है और उसके पुराने दकियानूसी (घिसे-घिसाये पिटे-पिटाये) साहित्य की जगह पर नवीन साहित्य का निर्माण नितान्त आवश्यक है।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, स्व. गु. पं. विष्णु दिगम्बरजी ही पहले गायक थे, जिन्होंने हिंदुस्तानी संगीत की इस दुरुपयोगिता पर प्रथम दृष्टिपात किया। लगभग सन 1910 से 1916 तक या इसके पहले ही पंडितजी ने नये ध्रुवपद, धमार, ख्याल, टप्पा, भजन रचे एवं उन्हीं के समकालीन स्व. पं. भातखंडे जी ने भी नई गीत-रचना की है। वह उनके संगीत क्रमिक पुस्तक-माला में मिलती है। जैसे राग ललित में 'मनुज जन्म अतुल पायो' इत्यादि। उपरोक्त स्व. पंडित विष्णुद्वय के शिष्यों ने, मेरा मतलब स्व. पं. ना.मो. खरे, श्री. शंकरराव व्यास, पद्मश्री पं. ओंकारनाथ, पं. वि.ना. पटवर्धन, पद्मभूषण पं. रातंजनकर, पं. गोविंदराव नातू इत्यादि गायक कवियों ने जो नये पक्के गाने रचे हैं, वह अत्यंत सुन्दर, आकर्षक और गेय योग्य हैं।

मेरा मतलब यह नहीं है कि सभी पक्के गाने त्याज्य और खराब हैं। आजकल पक्के गाने ऐसे होने चाहिये, जिन्हें छोटे बालक तक समझ सकें और जिन्हें माता, पिता, पुत्र, भाई, बहन, गुरु, शिष्य एक साथ गा सकें या ऐसी मंडली में गाने योग्य हो। पक्के गानों की धुनों में मौलिकता पाई जाती है। ऐसे गानों की धुन अच्छी होने के कारण वे अभी भी जीवित हैं। किंतु उनका साहित्य अश्लील होने से न तो वे सिखलाये जा सकते हैं, न उन्हें भले समाज में गाने का साहस होता है।

जैसे 'तुम सुघर चतुर बैंया पकरत हो बलमा' पुराने गानों पर नये गीत रचने चाहिये। ऐसा प्रयास इलाहाबाद के प्रसिद्ध कवि श्री. रामनरेश त्रिपाठी और स्व. ना.मो. खरेजी के सान्निध्य से हुआ और वह सफल रहा।

नये गाने तैयार होने पर भी काम नहीं चलेगा। अब अगली सीढ़ी है – उसे प्रस्तुत करने का तंत्र। इस तंत्र के भीतर कंठमाधुर्य, स्वर-ताल का पक्का ज्ञान, संगीत में प्रतिष्ठा और अनुभव, स्वरयोजना चातुर्य, यथेष्ट मनोविज्ञान का ज्ञान, हृदय में भावना या दर्द और गीत-प्रस्तुति में किंचित अभिनय भी चाहिये। तभी पक्का संगीत लोकप्रिय होगा।

यह काम एक दो व्यक्तियों के बूते का नहीं है। इसके लिये आवश्यक है कि 'ऑल इण्डिया रेडियो विभाग', 'संगीत नाटक अकादमी', कोई भी 'विश्वविद्यालय', या कोई राजा, रईस अथवा कोई संस्था कुछ कवियों और संगीतज्ञों को एक स्थान पर साल छह महीने तक रखने का प्रबंध करे, तब दोनों मिलकर पुराने गानों की आत्मा बदल देगें या यों कहिये संगीत का एक नया युग प्रचलित करेंगे। मुझे आशा है कि मेरे जीवन-काल में ही संगीत की इस कमी की पूर्ति हो जायेगी तथा हमारा संगीत भारत के स्वतंत्र युग का द्योतक बनकर अपना मस्तक ऊँचा करेगा।

म्यू. गांधी संगीत महाविद्यालय पत्रिका, 1957-58

⌘

संगीत संस्थाएँ

तथा उनके उद्देश्य

वैसे तो किसी भी विषय पर प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता है; किंतु जिसने प्रारम्भ से ही संस्था की स्थापना करके, उसके जीवन में तन्मयता प्राप्त की है, जिस पर अपनी संस्था को सुचारु रूप से चलाने का पागलपन सवार है और जो संस्था के सुख-दुख समझता है, उसी को इस विषय पर बोलने का अधिक अधिकार है। जिस स्त्री ने प्रसव-वेदना का अनुभव करके अपने शिशु को किसी भी आर्थिक परिस्थिति में हँसमुख रहकर छुटपन से बड़ा किया, वही माता शिशु संगोपन एवं उसके जीवन-साफल्य पर बोलने का अधिकार रखती है।

भूतकाल का इतिहास

बीसवी शताब्दी के पूर्व संगीत विद्यालयों की कल्पना ही नहीं थी। मेरे ख्याल से दक्षिण भारत में, बडौदा में स्व. सयाजीराव गायकवाड तथा बडौदा-नरेश के सुझाव से लगभग 1897 में सर्वप्रथम संगीत विद्यालय की स्थापना हुई थी। उसके प्रधानाचार्य थे उस्ताद मौलाबख़्श। किंतु वह प्रयत्न प्रयोगात्मक और प्राथमिक अवस्था में ही था। उन्नीसवीं शताब्दी तक गुरु-शिष्य परम्परा से ही संगीत की शिक्षा दी जाती थी। सामूहिक संगीत शिक्षा का जन्म बीसवी शताब्दी में हुआ।

मैं भूतकालीन संगीत इतिहास में जाना नहीं चाहता हूँ। सभी को मालूम है कि साठ-सत्तर वर्ष के पहले अधिकतर उत्तर भारत में जनसाधारण में संगीत विद्या एवं कलाकारों का क्या स्थान एवं मान-सम्मान था। सम्भ्रांत परिवार के लोग इस विद्या की ओर घृणित दृष्टि से देखते थे। इस सर्वश्रेष्ठ संगीत-कला तथा विद्या के उद्धारक, अर्वाचीन भारतीय संगीत के माता-पिता, विष्णुद्वय, गुरु पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर एवं पं. विष्णु नारायण भातखंडेजी के जीवन-कार्यों का परिणाम है कि आजकल इस कला का अध्ययन-अध्यापन, साहित्य-

निर्माण, प्रसार-प्रचार, मान-सम्मान अन्य विद्याओं के समकक्ष हो रहा है। यह इतिहास किसी से छिपा नहीं है।

गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना

पाँच मई 1901 में गुरु विष्णु दिगम्बरजी ने लाहौर में सर्वप्रथम गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय का मूल उद्देश्य था संगीत कला के सात्त्विक कलाकारों का निर्माण, जो विशुद्ध भारतीय संगीत का प्रचार मिशनरी दृष्टि से चारों तरफ करें, और जो संगीत विद्या के सहृदय श्रोता बनें। ऐसे विद्यार्थी समुदाय से तानसेन और कानसेन पैदा कराना – इसी उद्देश्य से पंडितजी ने 17 साल पूर्व इस मातृसंस्था (Mother Institution) की स्थापना की थी। वस्तुतः देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप संगीत संस्था के उद्देश्य और कार्य-प्रणाली में परिवर्तन होना अपरिहार्य है।

लगभग उसी समय पुणे में स्व. भास्करबुवा बखलेजी ने 'भारत गायन समाज' तथा स्व. भातखंडेजीने ग्वालियर में 'माधव संगीत विद्यालय' और लखनऊ में लगभग 1925-26 में 'मैरिस म्युज़िक कालेज', जिसे आजकल भातखंडे संगीत महाविद्यालय कहते हैं, की स्थापना की। इलाहाबाद के 'प्रयाग संगीत समिति' ने 'विष्णु दिगम्बर म्युज़िक अकादमी' को जन्म दिया। अब, तो छोटे मोटे शहरों में हजारों की संख्या में संगीत संस्थायें चल रही हैं।

संगीत संस्थाओं का उद्देश्य होनहार विद्यार्थियों को कलाकार तथा आदर्श संगीत शिक्षक बनाने की समुचित साधन-व्यवस्था करना और साथ ही साथ 'स्वान्तः सुखाय' सीखने वाली, सर्वसाधारण जनता को संगीत की शिक्षा वैज्ञानिक रीति से देना है। इन उद्देश्यों के अतिरिक्त उनका लक्ष्य प्रादेशिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगीत का तुलनात्मक अध्ययन, लोकसंगीत का संकलन और अध्ययन की व्यवस्था भी होना चाहिए।

संगीत संस्था के उद्देश्यों में अब केवल बड़े कलाकारों का निर्माण करना पर्याप्त नही है। इतना संकुचित दृष्टिकोण रखने से अब काम नहीं चलेगा – अब समष्टि का युग आ रहा है। भारतीय संगीत में अब सामूहिक संगीत की माँग प्रबल हो रही है। संगीत कला अब केवल संगीत विद्यालयों तक सीमित नहीं रह

सकती। रेडियो, टेलीविजन, नाट्य, चित्रपट, ऑपेरा और नृत्य इत्यादी क्षेत्रों में संगीत का तन्त्र (Technique) तथा उससे उपयोगी संगीत का निर्माण करना – इत्यादि उद्देश्य अब संगीत संस्था को भविष्य में लेने पड़ेंगे। इस दृष्टि से देखते हुए देहली के गांधर्व महाविद्यालय ने प्रत्येक क्षेत्र में कुछ न कुछ काम करके दिखलाया है।

अर्थ-व्यवस्था (Financial Aspect) – यह एक बड़ी समस्या है, जो ऐसे सार्वजनिक संस्था के उद्देश्य परिपूर्ण करने में कभी-कभी बाधा डालती है। किंतु आर्थिक बाधा के सामने झुकने वाली संस्थायें शिथिल तथा निर्जीव होकर नष्ट हो जाती हैं और जो संस्थायें इन आर्थिक कठिनाइयों को केवल चुनौती देकर अपना कार्य स्वार्थत्याग के बल पर चलाती हैं, वह दिन पर दिन उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होती रहती हैं।

कार्य-प्रणाली

प्रादेशिक परिस्थितियों, सामाजिक स्तर तथा जनरुचि के अनुसार प्रत्येक संस्था की कार्य-प्रणाली में भिन्नता होना स्वाभाविक है।

संगीत-शिक्षा संस्था की स्थापना में क्या नहीं चाहिए? भवन, मंच, योग्य शिक्षक, वाद्य, किताबें, पाठ्यक्रम, संचालकमण्डल, समुचित आर्थिक व्यवस्था और अब आधुनिक युग में टेपरेकार्डिंग, ग्रामोफोन, वृन्द-वादन, ग्रन्थालय, संगीत-सम्बन्धी क्रियात्मक तथा शास्त्रीय वैज्ञानिक अनुसन्धान करने योग्य उपकरण, वाद्यनिर्माण करने का छोटा सा वर्कशॉप तथा भाषाशास्त्र एवं इतिहास-संशोधन करने योग्य संशोधन (रिसर्च) शाखा इत्यादि समस्त साधन आधुनिक संस्था के पास होने चाहिए।

प्रत्येक अध्यापक को प्रतिवर्ष कम से कम एक बार संगीत के किसी भी विषय में अपनी नई कृति या कल्पना का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों के सामने रखना चाहिए। गतानुगतिक चाल से सिखलाने का अब पुराना ढाँचा बदलने की आवश्यकता है। छात्रों का उत्साह बढ़ाने वाले, उन्हें योग्य मार्ग-दर्शन करने वाले तथा छात्रों के मन में सर्टिफ़िकेट के प्रेम की अपेक्षा, कला का प्रेम विशेषरूप से जागृत करने वाले शिक्षकों की अधिक आवश्यकता है।

संगीत संस्था के संचालकों के हृदय में प्रत्येक घराने से सहानुभूति और आदर का भाव होना चाहिए। साथ ही साथ संचालकों में 'हंस क्षीर न्याय' के अनुसार सभी घरानों के अच्छे गुणों का संचय करने की भावना होनी चाहिए।

छात्रों के मन में कला-प्रेम के साथ ही साथ चरित्र के महत्त्व का समन्वय होना आवश्यक है। कला हस्तगत कराने के पीछे चरित्र को धक्का न लगे – इसकी सावधानी निरन्तर बरतनी चाहिए। ठोस अभ्यास और तपस्या पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता आज के युग की माँग है।

सभी संस्थायें संगीत के हर एक विभाग में कार्य कर नहीं सकतीं – वह मुझे मान्य है। किंतु एक या दो विशेषतायें प्रत्येक संस्था का लक्ष्य होना चाहिए।

संचालक समिति को प्रत्यक्ष क्रियात्मक संगीत शिक्षा में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उनका कार्य मूलतः नीति निर्धारित करना मात्र है।

संक्षेप में संस्थायें कला की दुकानदारी न करके सुगन्धित, नयन-मनोहर संगीत उपवन का निर्माण करें – मेरा इतना ही नम्र निवेदन है।

सस्ते किस्म के अनेक संगीत-विशारद, प्रभाकर या भास्कर निर्माण करने की अपेक्षा थोड़े ही सच्चे कलाकार कलापुजारी या कला-सेवक निर्माण करने की क्षमता जिस कार्य-प्रणाली में हो – वह प्रणाली संस्था को अपनानी चाहिए।

जय संगीत! जय भारत!!

गांधर्व महाविद्यालय, दिल्ली के रजत जयन्ती-महोत्सव के अवसर पर आयोजित परिसंवाद-गोष्टी में प्रस्तुत अभिभाषण महा. गांधी संगीत महाविद्यालय पत्रिका, 1973.

⌘

स्व. पं. डी.व्ही. पलुस्कर उर्फ़ बापूराव

पं. डी.व्ही. पलुस्कर का, मेरे पिताजी स्व. शंकर श्रीपाद बोडसजी से, गुरू-पुत्र होने के नाते, बहुत ही गहरा एवं निकट का संबंध था। इसी कारण, मुझे स्वयं पलुस्करजी से बहुत कुछ सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अतः इस लेख के माध्यम से, अपने कुछ संस्मरण प्रकट करना चाहूँगा।

स्व. डी.व्ही. पलुस्कर को, जिन्हें संगीत जगत 'बापूराव' के नाम से जानता है। कानपुर में हर वर्ष, एक 'अवधबिहारी' संस्था की तरफ से, कृष्ण जन्म की छठी पर पाँच दिन का संगीत-समारोह का आयोजन हुआ करता था। मैं, उस समय उस समारोह में पहली बार उनकी महफ़िल में तानपुरे पर बैठा था। उनका गायन इतना प्रभावशाली था कि गाना शुरू होते ही, एक सम्मोहन शक्ति सारे श्रोताओं को आकर्षित कर लेती थी और कब गाना शुरु हुआ व कब समाप्त हुआ, समय का अंदाज़ा ही न लगता। उनकी गायनशैली गंगा के समान स्वच्छ, निर्मल, सरल व सुलभ थी। गुणीजनों तथा आम जनता को समान रूप से आनंददायक थी। वे सदैव किसी एक भजन से अपने गायन का समापन करते। उनका भजन सुनने पर एक परमानंद की प्राप्ति होती थी, ऐसा मेरा अनुभव है। उनकी वेश-भूषा, धोती-कुर्ता व काली टोपी तथा गायन प्रस्तुत करते समय प्रसन्न मुद्रा रहती थी। उनके गायन में सहजता ऐसी थी कि तान लेते समय, दोनो हाथों के बीच उनका चेहरा थोड़ा सा हिलता जो कि श्रोताओं को बहुत ही आकर्षक दिखता था।

उनका गायन, मुझे ग्वालियर घराने का सार लगता है। किसी भी क्लिष्ट या बड़ी वस्तु को सूक्ष्म रूप में स्पष्ट दिखाना, यह उनकी खूबी थी। मुझे एक संस्मरण याद है, वे स्वयं अंग्रेज़ी में टाइप करके मेरे पिताजी को पत्र लिखते थे। मेरे पिताजी स्व. शंकर श्रीपाद बोडस द्वारा स्थापित 'संगीत-समाज' इस संगीत संस्था की तरफ़ से हर वर्ष, कानपुर में एक संगीत Conference का आयोजन होता था। उसमें एक बार बापूराव पलुस्करजी का भी कार्यक्रम आयोजित किया गया। बात

ही बात में उन्होंने पिताजी से कहा, "काका, मुझे काठमांडू का एक कार्यक्रम आया है, वहाँ के राजा ने निमंत्रण भेजा है। लेकिन उस निमंत्रण के पहले मैंने आपको तारीख दे दी थी अतः मैंने उनको मना कर दिया।।" यद्यपि उन्हें काठमांडू में कानपुर के 'संगीत-समाज' की अपेक्षा धनराशि अधिक मिलने वाली थी। फिर भी उनके कार्य करने का तरीका ऐसा था, कि यदि वे एक बार किसी व्यक्ति अथवा संस्था को आश्वासन दे देते, तो उसमें किसी भी परिस्थिति में परिवर्तन करना पसंद नहीं करते थे। यह बात मैं सन 1950 की बता रहा हूँ। इससे उनका, अपने पूरे जीवन में कितना अनुशासन था, यह समझ में आता है। यही अनुशासन उनके गायन व स्वभाव में स्पष्ट रूप से झलकता था। वह जब भी कानपुर आते तो हमारे ही घर ठहरते थे। मुझे आश्चर्य लगता था, कि कार्यक्रम के पहले या दिन भर में, वे कभी भी तानपूरा लेकर रियाज़ के लिए बैठे नहीं, लेकिन कार्यक्रम शुरू होते ही, उनका गायन कुछ ही क्षणों में सभी उपस्थित श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देता था।

मुझे बहुत ही बचपन से गायन सुनने का शौक था। मेरे जीवन में एक जो यादगार है, उसको मैं कभी नहीं भूल सकता। यह बात भी 1950 की है। मैं, आदरणीय पं. वी.जी. जोग साहबजी के साथ कलकत्ता गया हुआ था। श्री. लालाबाबूजी की Conference में उनका वायलिन वादन का कार्यक्रम था। वहाँ, कलकत्ता के इस समारोह में, मैंने आदरणीया सुश्री. केसरबाई केरकरजी का गायन सर्वप्रथम सुना। मैंने इतना सुन्दर आकारयुक्त गायन कभी, इसके पूर्व, सुना नही था। उन्होंने अपना कार्यक्रम का समापन 'राग-बसन्त' से किया। बसंत का कुछ ऐसा वातावरण छा गया, कि अब इसके बाद स्टेज पर कौन बैठेगा और कार्यक्रम प्रस्तुत करेगा, ऐसी शंका मेरे मन में पैदा हुई। उस समारोह में हिन्दुस्तान के कई प्रसिद्ध एवं दिग्गज गायक-वादक उपस्थित थे। श्री लालाजी ने लगभग, सभी कलाकारों से गायन के लिए पूछा, परंतु कोई भी तैयार नहीं था। जब बापूजी से पूछा गया, तो वे तुरंत तैयार हो गये। उस कार्यक्रम में, मैं और श्री शरद साठेजी तानपूरे पर बैठे और उन्होंने राग खम्बावती से अपने कार्यक्रम का प्रारंभ किया। उस राग के बाद उन्होंने अपना प्रिय भजन 'जानकी नाथ सहाय' वह भी प्रस्तुत किया। यह पूरा कार्यक्रम सुनने के लिए सुश्री. केसरबाईजी

भी उपस्थित थीं। गायन समाप्त होने के पश्चात वे स्टेज पर बापूजी से मिलने के लिए आईं। मैं और शरद साठे शांत व स्तब्ध बैठे रहे। केसरबाईजी की आँखो में खुशी के आँसू थे। उन्होंने कहा कि "अभी तक तो मैं केवल सुन रही थी कि विष्णु दिगम्बर का पुत्र गाता है, लेकिन आज तुम्हारा गायन सुनकर धन्य हो गई हूँ।" यह वाक्य सुनकर मैं तो अपने आप में ही धन्य हो गया, क्योंकि एक क्षितिज का बहुत बड़ा तारा अपने एक छोटे से तारे की इतनी प्रशंसा कर रहा है, यह एक देखने लायक दृश्य था। यह आगे के कलाकारों के लिए भी एक प्रकार की सीख़ है।

मैने उन दिनों, लगभग प्रतिदिन ही बापूजी के साथ, दो-दो Conferences में तानपुरे पर बैठने तथा उनका गायन सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया। मुझे याद है, आदरणीय स्व. बापूजी, स्व. पं. अनोखेलालजी एवं पं. वी.जी. जोगजी के साथ एक बड़े कमरे में एकत्र 15 दिन रहे थे। यह मेरे जीवन का अमूल्य समय था कि इन महान कलाकारों के साथ समय गुज़ारने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

बापूजी अपने माताजी पर बहुत श्रद्धा व प्रेम रखते थे। कार्यक्रमों के सिलसिले में जब उनको घर से दूर, अलग-अलग स्थानों पर जाना होता था, तब उनकी माँ सदा चिन्तित रहती थीं। इस प्रकार की चिन्ता से मुक्ति दिलाने के लिए उन्होंने अपने माताजी से कहकर रखा था कि, "जब तुम मेरा गाना रेडिओ पर सुनने बैठोगी, तो उस पूरे गाने में, मैं एक प्रकार की सरगम लूँगा तब तुम समझ लेना, कि मै जहाँ भी हूँ, स्वस्थ और ठीक हूँ।" इस प्रकार वे अपने गायन में अपनी श्रद्धेय माँ को संदेश पहुँचा देते थे।

एक संस्मरण आदरणीय पं. विनयचंद्रजी ने मेरे पिताजी को बताया कि उनकी कॅनाट प्लेस स्थित गांधर्व महाविद्यालय के आँगन में बापूजी का गायन चल रहा था। गायन के मध्य ही कुमारजी अपने साथियों सहित आ गये व उन्होंने अपना स्थान ग्रहण कर लिया। गायन चल रहा था कि बापूजी ने अपने पीछे, बैठे हुए एक विद्यार्थी को तार षड्ज लगाने के लिए कहा, वह विद्यार्थी न लगा सका। यह बात कुमारजी के समझ में आ गई। वे तुरन्त अपने स्थान से उठकर स्वयं तानपूरे पर बैठ गये। बापूजी को इसका कुछ पता न था। वे अपने गायन में तल्लीन थे। अचानक उनकी, पीछे नज़र जाने पर, कुमारजी पर नज़र पड़ी, तो

वे एकदम चकित हो गये। इस पर कुमारजी बोले, "कोई बात नही, तुम अपना गायन शुरू रखो।" यह दृश्य जिसने भी देखा होगा, वह तो अवश्य धन्य हो गया होगा। मैं तो समझता हूँ कि इस युग में ऐसे महान कलाकार एक दूसरे के इतने समीप आये, उन दोनों में इतना प्रगाढ़ प्रेम था जो कि आजकल के युवा कलाकारों में देखने को नहीं मिलता।

मैं उनके गायन से बहुत प्रभावित था। मैंने उनका अन्तिम दर्शन, उनकी चीन की यात्रा पर जाने से पूर्व किया। उस समय, उनके साथ खाँसाहेब अब्दुल करीम भी थे। मेरे पिताजी स्व. शंकर श्रीपाद बोडस, माताजी स्व. सौ. शान्ता शंकर बोडस, मैं और मेरी बहन वीणा स्टेशन पर उनसे मिलने व उनके लिए कुछ थोड़ा सा प्रसाद के रूप में खाना ले गए थे। उस समय मेरे पिताजी ने उनसे चीन पहुँचने पर रोज की डायरी लिखने को कहा व पत्र द्वारा सब समाचार बताने को कहा।

ऐसे महान कलाकार के साथ उठने-बैठने का जो ईश्वरीय आनंद मुझे मेरे जीवन में प्राप्त हुआ, उसके लिये मैं भगवान का आभारी हूँ, कि उसने मुझे एक संगीतज्ञ के घर पर जन्म दिया जिससे इन कलाकारों को प्रत्यक्ष देखने व सुनने का अवसर प्राप्त किया।

अन्त में, मैं स्व. दत्तात्रय विष्णु पलुस्कर और स्वामी विवेकानंद को एक समान मानता हूँ। यह दोनों लहलहाट बिजली की तेज किरण के समान विश्व को बहुत कुछ संदेश दे गये हैं।

⌘

विभाग 2

पं. शंकर श्रीपाद बोडस

जीवनवृत्त

जीवनमूल्य

सांगीतिक कार्य

– लेखिका : वीणा सहस्रबुद्धे

जीवनवृत्त

मेरे पिता स्व. पं. शंकर श्रीपाद बोडसजी जो अपने परिवार और शिष्य परिवार में 'दादा' इस नाम से जाने जाते थे उनके सांगीतिक कार्य एवं जीवन मूल्यों का अवलोकन करने के साथ ही साथ, मैं संक्षेप में उनके जीवनवृत्त पर भी प्रकाश डालना चाहूँगी। उनके जीवनवृत्त पर प्रकाश डालने पर उनकी कसी हुई कार्यप्रणाली में मेरी माँ का क्या योगदान रहा तथा हम दोनों भाई-बहन उससे किस प्रकार प्रभावित हुए यह भी समझ आ सकेगा।

दादा का जन्म 23 अप्रैल सन 1900 में महाराष्ट्र के सांगली नामक गाँव में हुआ था। दादा अपने भाई-बहनों में सबसे बड़े थे। उनके बाद एक भाई स्व. पं. लक्ष्मणराव बोडस थे, फिर बहनें श्रीमती अंबूताई लिमये, श्रीमती भागीरथी लेले, श्रीमती सरस्वती गोखले, श्रीमती येसूताई रानडे, श्रीमती योगाताई उर्फ़ सुशीलाताई गानू, कु. काशी एवं श्रीमती कमल नाखरे तथा अन्त में सबसे छोटे भाई श्री. रामचन्द्र बोडस थे। दादा कहते थे कि हमारे परिवार में क्रिकेट की पूरी टीम है। अपने परिवार को रेलगाड़ी की उपमा देते हुए दादा कहा करते थे कि मैं सबसे पहले आनेवाला रेल का इंजन हूँ और रामचन्द्र सबसे आख़िरी गाड़ी का डिब्बा है। शेष सब भाई-बहन बीच के डिब्बे हैं।

यद्यपि दादा के सभी भाई-बहन संगीत में रूचि रखते थे पर दादा एवं मेरे चाचा स्व. लक्ष्मणरावजी और स्व. सुशीलाताई गानूजी ने संगीत के क्षेत्र में विशेष नाम कमाया।

दादा के पिताजी श्री. श्रीपाद विष्णु बोडस बड़े कुशाग्र बुद्धि के थे। वे सांगली में पी.एन. गाडगील ज्वैलर्स के यहाँ हिसाब रखने (Accountant) का काम करते थे। वे शतरंज के ख्यातनाम खिलाड़ी थे और सर जॉन सायमन जैसे विख्यात खिलाड़ी भी उनका लोहा मानते थे। उन्हे संगीत में कोई विशेष रूचि नहीं थी। उनका मानना था कि गाना बजाना एक कला की दृष्टि से ठीक है, परन्तु उसे आजीविका का साधन बनाना संभव नही है। मेरे पिताजी को गाने में विशेष रूचि थी। वे बताते थे कि बालगंधर्व का नाटक देखने के लिए वे बैलगाड़ी में बैठकर सांगली से काफ़ी दूर जाया करते थे। संगीत के साथ-साथ उनका विद्याध्ययन भी चलता था। उन्हें शिक्षा में विशेष रुचि थी। यही समय था जब विष्णुबुवा (स्व. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर) बड़े सुरीले गायक के रूप में ख्याति प्राप्त कर रहे थे। वे सुरीले शिष्यों की तलाश में थे और सांगली में उनकी भेंट मेरे पिताजी से हुई। गणेश-उत्सव के अवसर पर एक छोटे से जलसे में दादाने 'राम रंगी-रंगले मन' पद गाया था। विष्णुबुवा ने उसे सुनकर बहुत पसंद किया। उन्होंने मेरे पिताजी से पूछा कि "क्या तुम गाना सीखोगे?" मेरे पिताजी इस प्रश्न से अत्यंत प्रसन्न हो गए और उन्होंने विष्णुबुवा से कहा कि, "आपको मेरे पिताजी से मिलना होगा।" बाद में महाराजजी दादा के पिताजी से मिले और उन्होंने कहा कि "आपके पुत्र की आवाज़ बहुत सुरीली है और मैं उसे गाना सिखाना चाहता हूँ।" मेरे बाबाजी ने कहा कि "वह तो सब ठीक है परंतु शंकर की कॉलेज की पढ़ाई चलना भी बहुत आवश्यक है। केवल गाना बजाना करना मुझे ठीक नही लगता।" इस पर महाराजजी ने आश्वासन दिया कि शंकर की कॉलेज की पढ़ाई विधिवत चलेगी और जो अतिरिक्त समय होगा, उसमे ही वे संगीत शिक्षा देंगे। दादा की आवाज़ मधुर, नुकीली व खनकभरी थी। लक्ष्मणकाका की भी उसी प्रकार की आवाज़ थी। महाराजजी ने दोनो भाइयों को संगीत शिक्षा देना स्वीकार कर लिया। स्व. प्रो. बी.आर. देवधरजी उस समय महाराजजी के प्रमुख शिष्यों में से थे। दादा एवं देवधरजी साथ-साथ कॉलेज में पढ़ते थे। दोनों ने

सांगली के City High School से एक साथ ही इण्टरमीडिएट की परीक्षा दी थी। महाराजजी गायक होने के साथ ही साथ संगीत प्रचारक भी थे। इस दृष्टि से वे शास्त्रीय संगीत के साथ ही साथ भजन भी गाते थे। भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़े होने के कारण वे काँग्रेस के अधिवेशनों में शामिल होकर देशभक्ति के गीत एवं राष्ट्रगान आदि भी गाते थे। पं. बाल गंगाधर तिलक तथा कई अन्य नेताओं से भी उनका अच्छा परिचय था।

महाराजजी अपने शिष्यों को केवल गायन ही नहीं वरन् संगीत के वाद्य ठीक करना तथा उन्हें बनाना भी सिखाते थे। इस शिक्षा के लिए उन्होंने एक Work Shop भी खोली हुई थी। उन्होंने अपनी एक नोटेशन पद्धति निकाली थी, तथा संगीत से संबन्धित नोटेशन युक्त पुस्तकें छापने के लिए अपना एक प्रेस भी खरीदा था, जिसे चलाने का कार्य उनके शिष्य ही किया करते थे। महाराजजी प्रज्ञा चक्षु थे अतः उनके लिए लिखने पढ़ने का कार्य स्व. देवधरजी एवं दादा ही करते थे। महाराजजी को विभिन्न पत्र-पत्रिकाएं पढ़ कर सुनाना तथा उनके पत्रों के उत्तर लिखना यह दादा का नित्यनियम था। दादा कहते थे कि हमने महाराजजी से केवल गाना ही नही सीखा, अपितु संयम एवं स्वाभिमानपूर्वक किस प्रकार जीवन यापन किया जाता है, यह भी सीखा।

दादा महाराजजी के पास अपनी शिक्षा समाप्त करके किस प्रकार कानपुर आकर बसे, यह घटना बड़ी रोचक है। सन 1924 में कानपुर में काँग्रेस का अधिवेशन था। महात्मा गाँधी के आमन्त्रण पर महाराजजी अपने साथ दादा, कशालकरजी तथा वी.एन. ठकारजी आदि कई शिष्यों को लेकर कानपुर आए थे। पी.पी.एन. कॉलेज के प्राँगण में गांधी जी के दर्शनार्थ, अपार जनसमूह उमड़ रहा था। इतनी अधिक भीड़ थी कि गाँधीजी को व्यासपीठ पर आना मुश्किल हो रहा था। उसी समय महाराजजी ने अपने शिष्यों समवेत गायन आरम्भ कर दिया। एकत्रित भीड़ अनायास उनके स्वर की ओर आकर्षित होकर शान्त हो गई तथा उसी समय गाँधीजी कैसे व्यासपीठ पर पहुँच गए किसी को ज्ञात भी न हो सका। महाराजजी के संगीत का यह आश्चर्यजनक प्रभाव देखकर पी.पी.एन. कॉलेज के प्राचार्य ने महाराजजी से निवेदन किया, कि वे अपने किसी एक शिष्य को उनके कॉलेज में संगीत अध्यापन के लिए अवश्य भेजें। प्राचार्यजी ने बताया कि कानपुर

में इस प्रकार के संगीत का कोई वातावरण नहीं है और वे उसे अपने कॉलेज में आरम्भ करना चाहते हैं। दादा आठ वर्ष तक महाराजजी के साथ रह कर संगीत शिक्षा ले चुके थे। 1926 में दादा महाराजजी के आदेशानुसार कानपुर आकर सर्वप्रथम पी.पी.एन. कॉलेज में संगीत शिक्षक के पद पर नियुक्त हुए। दादा के लिए ही कॉलेज में पहली बार यह पद निर्माण किया गया था। उस समय तक संगीत केवल व्यसनी एवं असंयमी लोगों का व्यवसाय माना जाता था। ऐसे वातावरण में संगीत शिक्षक का कार्य करते हुए मेरे पिताजी को अनेक विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। उन्हें रहने के लिए जो कमरा मिला था, वह ऐसे मोहल्ले में था जहाँ उर्दू बोली जाती थी। फलतः दादा ने उर्दू लिखना पढ़ना भी सीख लिया। कॉलेज में शिक्षकों का निरीक्षण करने के लिए गोरे लोग आया करते थे। कॉलेज में भारतीय संगीत की शिक्षा के लिए एक शिक्षक नियुक्त हुआ है, यह ज्ञात होने पर वह गोरा इन्सपेक्टर बहुत आश्चर्यचकित हुआ और उसने दादा से मिलने की इच्छा प्रकट की। इन्सपेक्टर साहिब जब दादा के क्लास में आए, तब दादा कक्षा में भारतीय स्वरलिपि पद्धति सिखा रहे थे। दादा इन्टर पास थे और अंग्रेज़ी में अच्छी तरह वार्तालाप भी कर सकते थे। उन्होंने, पूछने पर इन्सपेक्टर साहिब को भारतीय नोटेशन पद्धति एवं राग संगीत के नियमों के बारे में भली प्रकार समझा दिया। गोरा साहिब दादा की इस वार्ता से बहुत प्रभावित हुआ और उसने दादा को एक साथ दो इन्क्रिमेन्ट देने की सिफ़ारिश कर दी, फलस्वरूप दादा का वेतन पहले से बढ़ कर 40 रुपये प्रति माह हो गया। दादा कानपुर में रहते हुए अपनी तनख्वाह से पैसा बचा कर अपने पिताजी के पास सांगली भी भेजा करते थे।

दादा की अपनी विशिष्ट शिक्षणपद्धति होने के कारण कानपुर नगर में संगीत शिक्षक के रूप में उनकी ख्याति दिनोदिन बढ़ने लगी। बालकों को संगीत सुलभ एवं आकर्षक बनाने के लिए उन्होंने जो नवीन प्रयोग किए थे उसके फलस्वरूप उनके विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने पर, दादा ने संगीत संस्था के अन्तर्गत संगीत अध्यापन आरम्भ किया। जिससे अधिक से अधिक संगीत विद्यार्थी लाभान्वित हो सकें।

1928 में दादा का विवाह हुआ। माँ महाराष्ट्र के इचलकरंजी नामक गाँव की थीं। माँ के घर का नाम कु. सावित्री जोशी था। मेरी नानी बड़ी निग्रही एवं बात

की पक्की थी। नानाजी की दृष्टि कमज़ोर थी अतः घर के सारे निर्णय नानीजी ही लेती थी। माँ के एक बड़ी बहन व एक बड़े भाई थे। पिताजी की माँ का नाम अक्कूताई था। वे बड़ी मिलनसार स्वभाव की थीं और पड़ोसियों की सहायता के लिए सदा तत्पर रहती थीं। उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र शंकर के साथ सावित्री की शादी करने की बात नानीजी से कही तो मेरी नानी ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। और माँ ने बोडस घराने में प्रवेश किया। विवाह के समय पिताजी ने नानी को यह वचन दिया था, कि वे वर्ष में एक बार, उनकी बेटी को उनके पास अवश्य भेजा करेंगे। इस प्रकार 13 वर्ष की मेरी माँ शांताबाई बोडस अपना पीहर छोड़कर तीन दिन का प्रवास करके एक अपरिचित हिन्दी प्रदेश के नगर कानपुर में आ पहुँची। उनके साथ उनकी मौसेरी साँस भी कानपुर आईं थीं। यहाँ आने के बाद दादा ने उन्हें शिक्षा के लिए बहुत प्रोत्साहित किया। उन्हें हिन्दी एवं अंग्रेज़ी दोनों ही भाषाओं की शिक्षा दिलवाई। उसके साथ ही संगीत सिखाने के लिये दादा के गुरुबन्धु स्व. श्री शेषगिरी वासुदेव जोशीजी आया करते थे। माँ कई वर्षों तक जोशीकाका से गायन की शिक्षा लेती रही। उनकी आवाज़ बड़ी सुरीली और खुली हुई थी।

मेरी माँ बड़ी शान्त स्वभाव की तथा बहुत उद्यमी थी। उन्होंने सदैव बड़े परिश्रम से अपनी शिक्षा एवं परिवार पोषण ये दोनों दायित्व निभाए। 6 अक्टूबर 1933 में मेरी बड़ी बहन कालिन्दी का जन्म जमखिण्डी के मामाजी के घर हुआ। कालिन्दी दीदी को नृत्य में बहुत रूचि थी। मैंने उनके नृत्य की बहुत प्रशंसा सुनी

है। यद्यपि 13 वर्ष की आयु में ही अर्थात मेरे जन्म से 2 वर्ष पूर्व ही हृदय में कुछ खराबी होने के कारण उनका देहान्त हो गया। मेरी माँ और पिताजी के लिए यह अत्यन्त असह्य आघात था। माँ ने इसे असीमित धैर्य से सहन किया। मेरे बड़े भाई साहब स्व. पं. काशीनाथ शंकर बोडसजी का जन्म 4 दिसम्बर 1936 में हुआ। वे बचपन से बड़े खिलाड़ी एवं स्नेहपूर्ण प्रकृति के थे। 14 सितम्बर 1948 में मेरा जन्म हुआ। मेरे बड़े भाई साहब मुझसे 12 वर्ष बड़े थे। मै उन्हे तात्या कहकर पुकारती थी। मुझे बचपन से ही तात्या से पिता जैसा लाड़ प्यार मिला। बचपन में ही तात्या के ऊपरी ओंठ (Harelip) का ऑपरेशन मिरज में हुआ था। माँ के साहस एवं धैर्य की यह भी एक परीक्षा थी। दादा को एक बार प्लूरसी हो गई थी उस जमाने में यह बीमारी प्राणघातक मानी जाती थी। मिरज़ के अस्पताल में इसके इलाज की अच्छी व्यवस्था हो सकती थी। दादी भी वहाँ जाकर पिताजी की शुश्रुषा कर सकती थी, अतः अपने इलाज के लिए दादा तीन महीने मिरज़ जाकर रहे थें। उस समय माँ ने पूरी परिस्थिति का बड़ी दृढ़ता से सामना किया तथा पूरे परिवार एवं संगीत विद्यालय को अकेले ही कानपुर में सम्भाला। प्लूरसी ठीक होने पर जब दादा कानपुर वापस आए तब हमारे फैमिली डॉक्टर डॉ. कुण्टे ने ताकत के लिये (विशेषकर जाड़े के समय) दादा को अण्डे मे ब्रॅन्डी मिला कर पीने की सलाह दी। दादा ने दवा के रूप में उसे लेना स्वीकार कर लिया। माँ और पिताजी पूर्णरूप से शाकाहारी थे। उन्होंने अण्डा पहले कभी छुआ भी नहीं था। उनके लिए यह दवा बना कर देना अत्यन्त दुष्कर कार्य था परन्तु उन्होंने पति के स्वास्थ्य के हेतु यह कार्य भी करना स्वीकार कर लिया।

परिवार की इन विषम परिस्थितियों को सम्भालते हुए माँ की शिक्षा तथा अध्यापन कार्य भी सतत चलता रहा। सुरेन्द्रनाथ सेन बालिका विद्यालय में संगीत शिक्षिका की आवश्यकता थी, तो वहाँ के व्यवस्थापक मण्डल ने दादा से अनुरोध किया की वे माँ को वहाँ संगीत अध्यापन के लिए भेज दें। माँ को इस कार्य में बहुत हिचक थी। उनका कहना था, कि मुझे तो इतना कुछ आता ही नही है, कि मैं हाईस्कूल तथा इन्टर की कक्षाएँ पढ़ा सकूँ। कुछ समस्या भाषा की भी थी, परन्तु माँ का क्रियात्मक पक्ष बहुत सबल था, अतः दादा के इस आश्वासन पर कि वे उन्हें निर्देश देते रहेंगे, माँ ने सुरेन्द्रनाथ सेन बालिका विद्यालय में अध्यापन का

कार्य आरम्भ कर दिया। मेरी माँ नौ गजी लाँगदार साड़ी पहन कर कॉलेज जाती थीं। लडकियाँ उसे मर्दानी धोती कहकर चिढ़ाती थीं। तब से माँ ने छः गज की साड़ी पहनना आरम्भ कर दिया।

दादा ने माँ को संगीत शास्त्र का शिक्षण विशेष रूप से दिया तथा गाँधर्व महाविद्यालय मण्डल की परीक्षाएँ देने के लिए भी प्रोत्साहित किया। एस.एन. सेन बालिका विद्यालय में जब क्रमशः संगीत में बी.ए. की कक्षाएँ आरम्भ हुई तब माँ को संगीत शिक्षिका पद की नियुक्ति के लिए कुछ उपाधियाँ अर्जित करना अनिवार्य हो गया। कॉलेज में संगीत की कक्षाएँ लेते हुए, उनके लिए स्कूल जाना तो सम्भव नहीं था अतः उन्होंने व्यक्तिगत रूप से ही पहले 8 वी कक्षा पास की और उसके बाद विद्याविनोदिनी की परीक्षा दी जो कि दसवीं कक्षा के समकक्ष होती थी। मुझे जो मास्टर पढ़ाने आते थे, माँ ने उन्हीं से दसवीं कक्षा का अभ्यासक्रम भी पूरा किया। दसवीं के साथ साथ उन्होंने गांधर्व मण्डल की 'संगीत अलंकार' की परीक्षा भी दी, जो कि एम.ए. के समकक्ष होती है। अलंकार की तय्यारी करने के लिए वे सुबह तथा रात दोनों समय रियाज़ करती थीं। इन परीक्षाओं को पास कर लेने के बाद डिग्री कॉलेज में उनकी स्थाई नियुक्ति हो गई। कॉलेज में पढ़ाने के लिए तबले के ज्ञान की भी आवश्यकता थी अतः माँ ने तबले की शिक्षा भी ग्रहण की। माँ को शिक्षा में रूचि थी तथा गाना भी अच्छी प्रकार आना चाहिए ऐसा वे सोचती थी। वे बहुत उद्योगशील थीं। 'मैं कुछ भी कर सकूँगी', ऐसा उनको आत्मविश्वास था।

दादा संगीत अध्यापन एवं प्रसार के कार्य में दिन-रात लगे रहते थे। सबेरे दस बजे साइकिल से निकल कर रात आठ बजे लौटना, यह उनका नित्य का नियम था। उनका यह जीवनक्रम 70 वर्ष की आयु तक सतत चलता रहा। वे अपने कार्यकाल तक अनेक संस्थाओं से जुड़े रहे थे परन्तु 70 वर्ष की उम्र के बाद उन्होंने सभी संस्थाओं में काम करना धीरे धीरे बंद कर दिया, यद्यपि उनका अध्यापन कार्य निरंतर चलता रहा। जैसा कि मैंने पहले भी संकेत किया है कि, दादा ने अपने अन्य शिष्यों के साथ में ही हम दोनों भाई-बहन को संगीत शिक्षा दी थी। उन्होंने कभी भी हम दोनों को पृथक रूप से घण्टों बैठ कर सिखाया हो, ऐसा नहीं हुआ। शायद दादा की हम दोनों के प्रति इस तटस्थता ने ही हम दोनों

में संगीत ही करने की जिद्द पैदा कर दी। मेरी माँ अवश्य ही हम लोगों में रूचि एवं प्रतिभा पहचान कर हमें सदैव अभ्यास करने के लिए प्रेरित करती थी। सन 1956 में जब तात्या (काशीनाथ शंकर बोडस) ने आकाशवाणी की अखिल भारतीय संगीत प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त किया तब पहली बार दादा ने उनकी संगीत योग्यता पर ध्यान दिया, परन्तु फिर भी वे तात्या के लिए सशंकित थे कि संगीत के माध्यम से वे कहाँ तक अपना जीविकोपार्जन करने में सक्षम होंगे। तात्या में संगीत के प्रति सच्ची लगन थी। उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं परिश्रम से देश में ही नहीं, 'विदेशों' तक भी एक श्रेष्ठ कलाकार के रूप में अपनी पहचान बनाई।

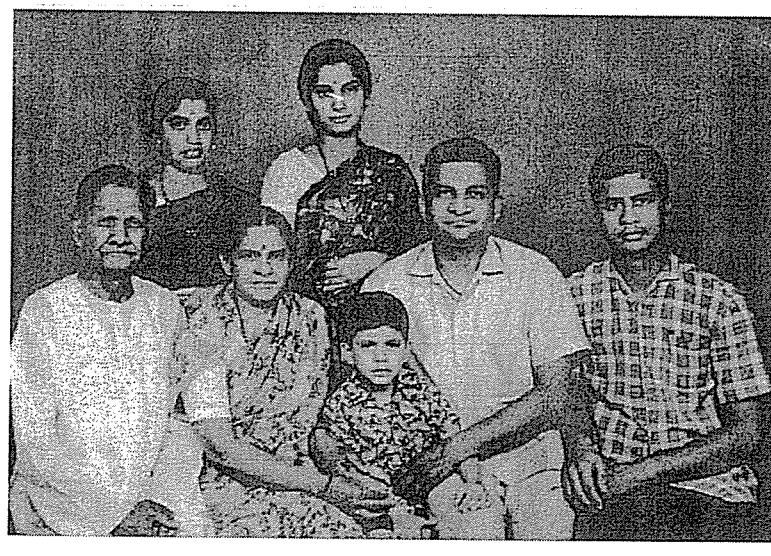

1969 कानपुर (आगे बैठे हुए) : पिताजी, माँ, प्रशांत (काशीनाथजी के ज्येष्ठ सुपुत्र), काशीनाथजी, हरि; (पीछे) : संगीता (काशीनाथजी की पत्नी) वीणा

1972 में जब मुझे आकाशवाणी की अखिल भारतीय संगीत प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ तब पहली बार दादा ने मुझसे कहा कि, "तुम्हें नित्य अभ्यास करना चाहिए।" अतः मैं अवश्य ही यह कह सकती हूँ, कि संगीत के क्षेत्र में प्रारम्भिक सीढ़ियाँ चढने में मेरी माँ और पिताजी का विशेष योगदान रहा।

दादा ने अनेक बाल, युवा एवं वृद्ध लोगों को संगीत सिखाया परन्तु वे शुल्क बहुत कम लेते थे। लोग कहते थे कि "आप शुल्क बढ़ा दीजिए, हमे इतनी कम राशि देने में लज्जा आती है।" इस पर दादा का कहना था कि "हमारे सिखाने से क्या होता है। तुम्हें पहले गाना आना चाहिए तभी हम पैसे के बारे में सोचेंगे।" माँ ने भी इस खीचातानी में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। दादा पैसे चाहे जितने भी लें, हर माह बचत अवश्य करते थे। उन्हें कोई व्यसन नहीं था, अतः बचत आसानी से हो जाती थी। हमारे घर इतने अधिक लोगों का आना-जाना एवं खाना-पीना होता था परन्तु हमें कभी आर्थिक कमी अनुभव नही हुई। बाद में तात्या भी कमाने लगे थे, परन्तु हमारे घर में सभी को पैसे से अधिक रूचि विद्याग्रहण में थी। ईश्वर की दया से जितना आवश्यक था, इतना अर्थ-लाभ भी होता रहा। दादा की आख़िरी समय तक यही कोशिश रही, कि वे अपनी कमाई का ही खर्च करें तथा किसी पर बोझ न बने। दादा के सेवानिवृत्त होने के बाद जब तात्या गृहप्रमुख बने तब दादा ने पिछली सीट पकड़ ली। अपनी भूमिका एकदम बदल दी। वे केवल स्नेहमय पिता बन गए तथा परिवार से सम्बन्धित सारे निर्णय उन्होंने तात्या पर छोड़ दिए। आख़िरी समय तक वे बहुत संतुष्ट एवं समाधानी थे। 82 वर्ष की आयु में उन्हे Herpis यह बीमारी हुई। उससे उनकी तबियत बहुत बिगड़ गई। 10 जुलाई 1986 में वे अपनी 86 वर्ष की आयु पूरी करके इस संसार से विदा ले गए। माँ बड़े धार्मिक विचार की थीं। कॉलेज एवं गृहस्थी के कार्य करते हुए भी वे पूजा एवं अनुष्ठान बड़े नियमित रूप से करती थीं। अपने अंतिम दिनों में वे पूर्ण मौन हो गई थीं। अपने रामनाम बँक के लिए वे निरंतर 'श्रीराम जयराम जय जय राम' लिखा करती थीं। दादा के जाने के बाद माँ को भी जीवन में कोई रूचि नहीं रही। दादा के जाने के दो वर्ष बाद ही 23 अप्रैल 1988 को कैंसर हो जाने के कारण माँ का भी देहावसान 75 वर्ष की आयु में हो गया।

दुनिया तो आनी जानी है। यहाँ कोई भी सदैव नही रहा, परन्तु कुछ लोग होते हैं जो सदैव के लिए समाज में अपनी कुछ छाप छोड़ जाते हैं। मेरे माता-पिता उसी श्रेणी के थे, इसे मैं अपना सौभाग्य मानती हूँ तथा उनके चरणों में शत शत नमन करती हूँ।

⌘

जीवनमूल्य

मैंने बचपन से ही पिताजी उर्फ़ 'दादा' को एक कर्तव्यनिष्ठ ईमानदार संगीत आचार्य के रूप में देखा। दादा बड़े प्रामाणिक थे। सच्चाई, ईमानदारी, निःस्वार्थता एवं आत्मसम्मान, उनके व्यक्तित्व के आधार स्तम्भ थे। सच्चे मन से कर्म करना ही वास्तविक पूजा है, ऐसा वे मानते थे। 'संगीत-समाज' संस्था के कार्यक्रमों का आयोजन करते समय कलाकारों के आने से लेकर जाने तक पूरी व्यवस्था में वे तन, मन व धन से लग जाते थे। कलाकारों को स्टेशन से लाने, ठहराने व ले जाने तक का पूरा खर्च वे स्वयं वहन करते थे, उसे संस्था पर नहीं डालते थे। दादा बड़े स्वाभिमानी भी थे। कलाकारों के लिए यदि कभी किसी वाहन की व्यवस्था हो भी जाय तो दादा उसका लाभ कभी नहीं उठाते थे। वे स्वयं अपनी साइकिल पर ही चलते थे।

दादा के व्यक्तित्व का सबसे सबल पक्ष यह था कि उन्हें अपने जीवन का लक्ष्य बहुत स्पष्ट था और वे उसके प्रति पूर्णतः समर्पित थे। एक महत् लक्ष्य के प्रति समर्पित जीवन में स्वयमेव विविध गुणों का समावेश हो जाता है। संगीत को सभ्य समाज में प्रतिष्ठा दिलाने का जो बीड़ा स्व. पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्करजी ने उठाया था, उसी गुरुमन्त्र को लेकर सन 1926 में दादा कानपुर आए थे। कानपुर में रह कर संगीत का प्रचार, प्रसार करना ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य था, जिसे उन्होंने जीवनपर्यन्त अर्थात 1926 से लेकर 1986 तक, पूरे साठ (60) वर्षों तक निभाया। संगीत के क्षेत्र में रहते हुए भी, उसके माध्यम से धन अथवा यश अर्जित करना उनका लक्ष्य कभी नहीं रहा। मधुर कंठ एवं श्रेष्ठ संगीत शिक्षा पाकर भी उन्होंने मंच की प्रतिष्ठा का लोभ न करके, अपने विद्यार्थियों के ही सांगीतिक विकास में अपनी संगीत प्रतिभा की सार्थकता मानी। अपने लक्ष्य के समक्ष दादा का परिवार भी गौण था। जहाँ तक अपनी संतानों के संगीत शिक्षण का प्रश्न था, उसे भी दादा अपने संगीत विद्यार्थियों के समक्ष, दूसरे दर्जे पर रखते थे। उनका कहना था, "कि महाराजजी ने मुझे सांगली से इतनी दूर कानपुर में इसीलिए नही भेजा है, कि मैं अपनी दोनों संतानों को अच्छी प्रकार संगीत शिक्षा

दूँ"। फलतः हम दोनों भाई-बहनों को उनसे सीखने के लिए अन्य विद्यार्थियों के साथ ही विद्यालय में उपस्थित होना पड़ता था।

शिष्यों को संगीत सिखाने में दादा के धैर्य की कोई सीमा नहीं थी। एक ही तान को 25-30 बार गाकर वे वैसी ही शिष्य के गले से निकलवा कर छोड़ते थे। विद्यार्थी यदि सीखने में कहीं असावधान हो, तो उन्हें दण्ड देने की भी दादा की निराली पद्धति थी। ऐसी स्थिती में वे अपने को ही दोषी मानते थे। उनका विचार था, कि विद्यार्थी यदि तन्मय होकर शिक्षा नहीं ग्रहण कर रहा है, तो अवश्य ही उनके शिक्षण में कोई त्रुटि है, अतः वे अपने हाथ पर स्वयं ही स्केल से मारने लगते थे। इस प्रकार के क्रोध से विद्यार्थी स्वयं ही सतर्क हो जाते। संगीत की प्रतिभा रखने वाले प्रत्येक विद्यार्थी की समुचित शिक्षा एवं सर्वतोमुखी विकास के लिए, वे सदैव प्रयासरत रहते थे। पहली बार जब कुमारजी कार्यक्रम देने के लिए कानपुर आए, तो उनकी गायन प्रतिभा से दादा बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कुमारजी के पिता से अनुरोध किया कि वे कुमारजी को पं. देवधरजी से संगीत की विधिवत शिक्षा दिलवाएं जिससे उनकी गायन प्रतिभा के साथ-साथ उनका शास्त्रीय पक्ष भी सशक्त हो सके। उन्हें इस उभरते कलाकार को शास्त्रीय संगीत के अनुशासन में ढाल कर, एक श्रेष्ठ कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित करने की महत्त्वाकांक्षा थी। कुमारजी को एक सुयोग्य गुरू तक पहुँचाने में दादा का जो हाँथ था, उसे कुमारजी स्वयं स्वीकार करते थे और वे दादा को गुरू की ही भाँति सम्मान देते थे। दादा का कहना था, कि प्रतिभा स्वयं बोलती है उसके लिए सिफ़ारिश करने की आवश्यकता नहीं होती। हमारे घर में यद्यपि भारत के उच्चकोटि के अनेक कलाकारों का आना-जाना रहता था, परन्तु दादा ने कभी भी हम लोगों के गायन के विषय में किसी से सिफ़ारिश नहीं की।

दादा ने संगीत का प्रचार करते हुए विविध स्तर के विद्यार्थियों को सिखाया तथा उनके शिक्षण में अनेक नवीन प्रयोग किए। व्यक्तिगत शिक्षण के साथ ही साथ उन्होंने संगीत संस्थाओं का भी विकासकार्य किया। उनके लिए अपना घर एवं संगीत संस्था में कोई अन्तर नहीं था। दादा संस्था में उसी प्रकार प्रतिफल की आशा किए बिना कार्य करते थे, जैसे कि घर में किया जाता है। दरी, चादर इत्यादि सभी सामान आवश्यकतानुसार वे घर से लेकर संस्था में पहुँचा देते थे।

आवश्यकता होने पर वे स्कूल में झाड़ू लगाने और दरी बिछाने में भी कोई संकोच नहीं करते थे। दादा की दृष्टि में कोई काम ऊँचा नीचा नही होता, क्योंकि उनका लक्ष्य सदैव उत्कृष्ट होता था।

दादा की एक बड़ी विशेषता यह थी कि अत्यन्त साधारण दिखने वाले गुण ही उनके असाधारण व्यक्तित्व का कारण थे। वे अपने वचन के पक्के थे। किसी शिष्य के यहाँ पहुँचने का उन्होंने यदि कोई समय दिया है और किसी कारणवश वे वहाँ समय से पहुँचने में असमर्थ हैं तो साइकिल से मीलों जाकर इसकी पूर्वसूचना वे अवश्य देते थे। उस समय टेलीफोन एवं स्कूटर की सुविधाएँ नहीं थी। अपने कारण किसी को कोई असुविधा हो, यह उन्हें असह्य था। वे समय के बड़े पाबन्द थे। किसी ने भोज में यदि सायं सात बजे बुलाया है तो ठीक सात बजे वहाँ उपस्थित होने वाले वे पहले व्यक्ति होते थे। उनके द्वारा आयोजित होने वाले कार्यक्रम निश्चित समय पर ही आरम्भ होंगे, ऐसा सबको ज्ञात था। पत्राचार में दादा बड़े तत्पर थे। पत्रों का उत्तर, अविलम्ब देते थे। प्रतिदिन उनका डायरी लिखने का नियम था। सन 1930 से सन 1986 तक की उनकी लिखी डायरियाँ अभी भी सुरक्षित हैं। इन डायरियों के माध्यम से वे अपने समस्त कार्यक्रमों का लेखा जोखा रखते थे। दादा का हिसाब-किताब भी बड़ा व्यवस्थित होता था। अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मण्डल के सेक्रेटरी पद पर रहते हुए उन्होंने अपनी इस व्यवस्थित प्रणाली का पूरा परिचय दिया था। कृतज्ञता ज्ञापन में दादा का कोई सानी नहीं था। किसी का किया हुआ छोटे से छोटा कार्य भी वे कभी भूलते नहीं थे और समय मिलने पर उसकी चर्चा भी अवश्य करते थे।

दादा अपने सभी परिचित व्यक्तियों का चाहे वह किसी भी स्तर का हो, समुचित सम्मान करते थे। कलाकारों का विशेष सम्मान एवं आवभगत करते थे। कभी किसी की पीठ पीछे निन्दा करना वे हेय मानते थे। दादा की गुणग्राहकता अपूर्व थी। गुण चाहे बड़े में हो या छोटे में, वे सभी का समादर एवं सराहना करते थे तथा सदैव कुछ नया सीखने के लिए तत्पर रहते थे। अपने शिष्यों से भी उन्हें सीखने में कोई हिचक नहीं थी। एक बार मैंने रेडियो पर नट-केदार एवं नटभैरव राग गाए तो तुरन्त दादा ने मुझे पत्र लिखा "कि ये राग वे मुझसे सीखना चाहते हैं।" संगीत के अतिरिक्त साहित्य, काव्य, कला, नृत्य एवं अभिनय आदि विविध सांस्कृतिक गतिविधियों में रूचि लेते थे। श्रेष्ठ साहित्य पढ़ने का

उन्हें व्यसन था। रात्रि में बिना पढ़े वे कभी सोते नही थे। वे सच्चे अर्थों में एक सुसंस्कृत, सुशिक्षित एवं अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे।

दादा के कानून बड़े कठोर थे। एक बार इन्टरमीडिएट परीक्षा के परीक्षकों के विषय में दादा को यह निर्णय लेने का कार्य सौंपा गया था, कि जो परीक्षक जाँचने में, दो से अधिक गलतियाँ करे, उसे परीक्षक पद से हटा दिया जाय। इस कार्य में मेरी माँ से भी दो गलतियाँ हो गईं और दादा ने तुरन्त परीक्षक पद से उनकी छुट्टी कर दी। इसी प्रकार रेडियो पर कार्यक्रम देते हुए उन्हे जब ऐसा प्रतीत हुआ कि उनकी आवाज में अब वैसी स्थिरता नहीं रही जैसी अपेक्षित है, तब उन्होंने स्वयं यह कह कर कि "मै अब रेडियो में गाने योग्य नही हूँ", आकाशवाणी से अपना नाम कटवा दिया। दादा जब क्रियात्मक परीक्षा लेने जाते थे, तब उनका नियम था, कि वे कभी ऐसा सवाल विद्यार्थी से नही पूँछते थे, जो वे स्वयं तुरन्त बिना त्रुटि के हल न कर सकें। एक बार उन्होंने परीक्षा लेते हुए एक विद्यार्थी से किसी ताल की आड़ लय पूँछी और विद्यार्थी के न लगा पाने पर, जब वे स्वयं लगाकर बताने लगे तो पहली बार कहीं चूक गये। बस, फिर क्या था, सबके सामने ही उन्होंने अपने दोनों गालों पर तमाचे जड़ दिए। ऐसा था दादा का ईमानदार व खरा व्यक्तित्व। अपनी इन्हीं विशिष्टताओं के फलस्वरूप उन्होंने समाज में इतना अधिक स्नेह व सम्मान अर्जित किया था। दादा के कानपुर नगरवासियों तथा विभिन्न संस्थाओं ने समय-समय पर विधिवत सम्मानित भी किया था। 1950 में उनकी निःस्वार्थ संगीत सेवा के 25 वर्ष पूरे करने पर जी.एन.के. कॉलेज में माननीय ठाकुर जयदेव सिंहजी ने उनकी संगीत सेवा की रजत जयंती मना कर उन्हे सम्मानित किया था। उसी वर्ष दादा का सार्वजनिक अभिनन्दन कानपुर के महाराष्ट्र मण्डल तथा मित्रमण्डल द्वारा हुआ था। 1969 में सार्वजनिक व सदस्यगणों ने उनकी अपूर्व संगीत सेवा के लिए उन्हें सम्मानित किया था। 1974 में 'उत्तर प्रदेश के संगीत नाटक अकादमी' ने दादा को अकादमी पुरस्कार तथा "रत्न सदस्यता" देकर सम्मानित किया। 1980 में 'रोटरी क्लब कानपुर वेस्ट' ने 'Service above self' सम्मान से पुरस्कृत किया 1982 में पूना के त्रैवार्षिक सम्मेलन में अ. भा. गां. महाविद्यालय मण्डल द्वारा उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से विभूषित किया गया था।

⌘

सांगीतिक कार्य

स्व. शंकर श्रीपाद बोडसजी मेरे पूज्य पिता थे। हम सभी परिवार के सदस्य एवं शिष्यगण उन्हें 'दादा' कह कर बुलाते थे। दादा के व्यक्तित्व की जिन विशेषताओं एवं संगीत सम्बन्धी जिन कार्यकलापों को मैं बचपन में देखती रही थी, उन्हें आज जब मैं याद करती हूँ, तो मुझे लगता है कि इतना गुरूभक्त व संगीतप्रचार के लिए सर्वथा समर्पित व्यक्तित्व कदाचित ही देखने को मिलता है। संगीत को सभ्य समाज में प्रतिष्ठा दिलाने का जो बीडा प्रातःस्मरणीय स्व. पं. विष्णू दिगम्बर पलुस्करजी ने उठाया था उसी गुरुमन्त्र को लेकर दादा सर्वप्रथम 1924 में महाराजजी के साथ कानपुर आए थे। तत्पश्चात महाराजजी के आदेशानुसार सदा के लिए महाराष्ट्र छोड़कर सन 1926 में वे कानपुर आ गए, और सन 1986 तक अर्थात जीवन पर्यन्त उन्होंने कानपुर को ही अपना कार्यस्थल बनाया।

दादा के समक्ष यद्यपि कई बार ऐसे आकर्षण आए कि यदि वे कानपुर छोड़कर लखनऊ चले जाते तो उन्हें तत्काल प्रतिष्ठा व धन का लाभ हो सकता था। लखनऊ में अधिकारी पद पर उनकी नियुक्ति की योजना थी। इस विषय में जब उन्होंने मेरी माँ से सलाह ली तो मेरी माँ ने बिना हिचके यही कहा कि, "आपकी आत्मा को जो सही लगता हो, वही आप करें।" अतः दादा ने इन आकर्षणों का परित्याग कर अपने गुरू की आज्ञा शिरोधार्य मानकर कानपुर में ही रहकर संगीतप्रचार करने का निर्णय लिया। गुरू के प्रति इतनी निष्ठा व श्रद्धा का उदाहरण शायद ही कहीं पर मिलेगा। दादा कहते थे कि उनके दो पिता हैं, एक उनके जन्मदाता पिता और दूसरे महाराजजी, अर्थात पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर। इतना प्रगाढ़ था दादा का महाराजजी के प्रति स्नेह।

संगीत के क्षेत्र में दादा ने जो कार्य किए उनसे यद्यपि आज भी हमें मार्गदर्शन मिलता है, तथापि इतिहास के पन्ने पलटकर यदि हम सन 1926 के कानपुर की सांगीतिक स्थिति को देखें, तभी हम दादा के कार्यों का यथावत मूल्यांकन कर सकेंगे।

कानपुर जैसे औद्योगिक व व्यापारिक नगर में उस समय जब कोठेवालियों के अतिरिक्त, संगीत के लिए कोई स्थान नहीं था, दादा ने कितने परिश्रम से संगीत की निर्मल भागीरथी को जन जन के लिए सुलभ बनाया होगा इसका हम सहज अनुमान लगा सकते हैं। संगीत को जिस समय अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था और संगीत व्यसनी एवं चरित्रहीन लोगों का व्यवसाय समझा जाता था, उस समय कानपुर में संगीत का प्रचार कर परिवार सहित रहकर अपनी आजीविका अर्जित करना कोई सहज कार्य नहीं था। आज की भाँति उस समय संगीत शिक्षक का समाज में कोई स्थान नहीं था। संगीत शिक्षक के रूप में दादा को उस समय जिस प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, वह आज के समय में बड़ी विचित्र एवं हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। पहले तो किसी प्रतिष्ठित परिवार में कोई संगीत सीखता ही नहीं था। किसी बड़े घर की बेटी, बहू यदि सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध हिम्मत करके संगीत सीखना भी चाहे तो एक नवयुवक से 25/26 वर्ष की युवा बालिका आमने सामने बैठकर संगीत सीखे, ऐसा सोचा भी नही जा सकता था। दादा उस समय युवा थे, अतः शिष्या व शिक्षक के बीच एक परदा डाल दिया जाता था तथा एक नौकरानी बराबर निगरानी के लिए बैठा दी जाती थी। संगीत शिक्षक पर पूर्ण विश्वास आसानी से नहीं किया जा सकता था। दादा ने इसी प्रकार की चुनौतियों का सामना करते हुए कानपुर में संगीत शिक्षण का कार्य आरम्भ किया। समाज की इन्हीं परिस्थितियों को देखते हुए महाराजजी ने शिक्षा दी थी कि संगीत प्रचारक को सर्वप्रथम चरित्रवान एवं कर्तव्यपरायण होकर सभ्य समाज में सम्मान अर्जित करने की आवश्यकता है। ऐसे सम्माननीय व्यक्ति द्वारा जब संगीत शिक्षण का कार्य होगा, तभी वह सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत होगा। दादा ने अपने गुरू की इस शिक्षा को शत-प्रतिशत अपने जीवन में चरितार्थ किया।

संगीत के प्रचार के लिए दादा ने संगीत के प्रति अत्यन्त उदार दृष्टिकोण अपनाया तथा उसे सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने का प्रयास किया। कोई राष्ट्रीय पर्व हो अथवा धार्मिक अवसर, सामाजिक संस्कार हो अथवा स्कूलों के वार्षिकोत्सव, इन विभिन्न अवसरों के उपयुक्त रचनाएँ स्वरबद्ध कर उन्होंने जीवन के विभिन्न पक्षों को श्रेष्ठ संगीत के रंग से भर दिया। उनका मानना था कि संगीत

केवल घरानेदार उस्तादों की ही बपौती नहीं है। मंच के अतिरिक्त भी जीवन में संगीत के लिए अनेक अवसर हैं। संगीत केवल घरानों में ही नही पनपता, उसकी शिक्षा, संस्थाओं के माध्यम से भी दी जा सकती है। जहाँ तक शास्त्रीय संगीत का प्रश्न है, वहाँ भी उन्होंने किसी विशेष घराने का आग्रह नहीं रखा। वे कहते थे "सब प्रकार का संगीत सुनो। सभी घरानों की अपनी विशिष्टताएँ हैं उनकी सुंदर बातों को ग्रहण करना"। हमारे घर में सभी घरानों के कलाकार आते और दादा उनके कार्यक्रम आयोजित करते थे। उस ज़माने में ठुमरी दादरा आदि सुनना हेय माना जाता था लेकिन दादा ने केवल यही गीतप्रकार ही नहीं, बल्कि गज़ल, भज़न, गीत व फिल्मी संगीत सुनने व गाने के लिए भी कभी मना नहीं किया। उन्होंने सदैव अपना मन व आँखें खुली रखकर संगीत को परखा तथा किसी भी प्रकार के संगीत को त्याज्य नही समझा। इतना ही नही फिल्म संगीत में भी अगर कुछ अच्छी बातें हो तो वे उसकी भी सराहना करते थे। उनके उदार दृष्टिकोण का ही परिणाम था, कि वे लताजी के गाए हुए, कई गानों की तह दिल से प्रशंसा करते थे। संगीत से सम्बन्धित जो सुन्दर बात है वह किसी भी संदर्भ में हो, प्रशंसनीय व ग्राह्य है, ऐसा उनका मानना था। कोई भी सुन्दर स्वर संयोजन अथवा गले की मोहक हरकत को श्रेष्ठ संदर्भ में ढाल लेना ही गुणग्राहकता है। उस जमाने में दादा का संगीत के प्रति यह दृष्टिकोण अत्यन्त क्रान्तिकारी था।

दादा को घर-घर संगीत का संदेश पहुँचाना था अतः उन्होंने वृद्ध एवं युवा सभी के उपयुक्त रचनाएं स्वरबद्ध की। उन्होंने सर्वप्रथम बालकों को रुचिकर लगनेवाले विषयों से सम्बन्धित दर्जनों रचनाओं का संग्रह कर उन्हें आकर्षक धुनों में बाँधकर बच्चों को सिखाया।

शास्त्रीय संगीत की शिक्षा रंजक व सहज ग्राह्य बनाने की दृष्टि से दादा ने अनेक मौलिक प्रयोग किए, उन्हें मैं कुछ विस्तार से बताना चाहूँगी।

संगीत के बाल विद्यार्थियों को सर्वप्रथम लय व सुर का ज्ञान कराने की आवश्यकता थी। कक्षा में बहुत देर एक ही विषय को लेकर बैठना भी बच्चों को भाता नही। अतः वे बच्चों को कक्षा से बाहर मैदान में ले जाकर कवायत करते-करते, बड़े मनोरंजक तरीके से लय का ज्ञान कराते थे। दुगुन, तिगुन व चौगुन की लयकारियाँ भी खेल ही खेल में सिखा देते थे। दुगुन की लय सैनिकों के मार्चिंग

जैसे कराते थे और तिगुन की लय लंगड़े की चाल चलकर समझाते थे। तिगुन की लंगड़े जैसी चाल प्रत्यक्ष देखकर बच्चों को वह क्लिष्ट लयकारी भी सहज पकड़ में आ जाती थी। बाद में ध्रुपद धमार आदि लयकारियों को बच्चे सरलता से ग्रहण कर लेते थे। लय ऐसी अप्रत्यक्ष वस्तु को प्रत्यक्ष कर देना, यह दादा की मौलिक कल्पना थी।

सुर का ज्ञान कराते हुए शुद्ध स्वरों के बाद विकृत स्वरों के साथ जो समस्या आती है, उसे सुलझाने के लिए स्वरों को एक व्यक्तित्व देने का उनका एक अनोखा ढंग था। निराकार स्वर व्यक्तित्व के माध्यम से साकार होकर बच्चों को सहज ग्राह्य हो जाता था। उदाहरणार्थ चौथी कक्षा के विद्यार्थियों को कोमल ऋषभ का स्थान समझाना था। इस संदर्भ में वे एक घटना बताते थे, जिससे कोमल ऋषभ का व्यक्तित्व साकार हो उठता था। घटना इस प्रकार थी कि "चौथी कक्षा का क्लास लगा हुआ था। गुरूजी समय के बहुत पाबन्द थे अतः बच्चों को घण्टी बजते ही पाँच मिनट के अंदर क्लास में उपस्थित रहना होता था। एक लड़का जो कि कोमल ऋषभ था, उसे आराम से चलने की आदत थी। सुस्त होने के साथ-साथ उसे गुरुजी का डर भी था कि यदि देर से कक्षा में पहुँचेंगे तो गुरुजी बैंच पर खड़ा कर देंगे अथवा मुर्गा बना देंगे। उसके सभी दोस्त शुद्ध मध्यम आराम से सामने वाले दरवाजे से कक्षा में प्रवेश कर के कुर्सियों पर तन कर बैठे थे।

कोमल ऋषभ लड़का इस डर से कि कहीं मै पकड़ा न जाऊँ क्लास के पीछे वाले दरवाजे से जिस प्रकार चोर प्रवेश करता है, वैसी ही स्थिति कोमल ऋषभ की है। यदि षड्ज, कोमल रिषभ को हम एक के बाद एक गाकर देखें तो उपर्युक्त दोनों व्यक्तित्व स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस चित्रण से विद्यार्थी को स्वर की सही पकड़ सहजता से आ जाती है। शुद्ध गंधार व कोमल गंधार, दोनों दोस्तों की कहानी भी इसी प्रकार है। दोनों दोस्त गणित की परीक्षा देने के लिए बैठे थे। शुद्ध गंधार गणित की परीक्षा देने के लिए अपनी पेन्सिल व कम्पास आदि सब लाया था और बड़ी तन्मयता से परीक्षा देने में लगा था, जब कि कोमल गंधार अपना सामान लाना भूल गया था और अपने दोस्त से गिड़गिड़ा रहा था कि "प्लीज थोड़ी देर के लिए मुझे भी कम्पास दे दो"। कोमल गंधार का यही गिड़गिड़ानेवाला व्यक्तित्व स्पष्ट दिखाई देता है।

तीव्र मध्यम की भी अनोखी कहानी है। फुटपाथ पर मदारी, बंदर का नाच दिखा रहा था। चारों ओर खड़ी भीड़ उसका आनन्द ले रही थी। एक बच्चा अपने पिताजी की साइकिल पर आगे बैठकर स्कूल जा रहा था। उसका भी मन हुआ कि मैं बंदर का नाच देखूँ। भीड़ में घुसने की तो उसे जगह नहीं मिली, पर बाहर से ही एड़ी के बल खड़े होकर वह उचककर तमाशा देखने लगा। यही है तीव्र मध्यम की स्थिति, उचककर खड़े होनेवाली। स्वरों के अतिरिक्त रागों का स्वरूप भी वे इसी प्रकार की कहानियों द्वारा स्पष्ट करते थे। एक बार आठवीं अथवा दसवीं कक्षा की किसी शिष्या को उन्हें राग तोड़ी सिखाना था। तोड़ी के स्वर समझने में उसे कठिनाई हो रही थी। इस प्रसंग में दादा को एक कहानी सूझ गई। राग तोड़ी के स्वरों को स्पष्ट करनेवाली कहानी इस प्रकार थी – दादा ने पहले सा रे ग म॑ प ध नी सां इन स्वरों को तीन हिस्सों में बाँट दिया। यथा सा रे ग, म॑ प ध, नी सां। उसी तरह अवरोह भी सां नी ध, प म॑ ग रे स हो गया। अब कहानी इस प्रकार है कि दिसम्बर की कड़ी ठंड पड़ रही थी। दसवें दर्जे में पढ़नेवाला एक विद्यार्थी था। उस लड़के की एक दादी माँ थी। वह बहुत धार्मिक थीं। जाड़े में चाहे कितनी भी ढंड पड़ रही हो पर उनका यह नियम था कि वे रोज़ प्रातःकाल 4 बजे गंगास्नान को जाती थीं। इस लड़के ने अपनी दादी माँ से कहा, "मुझे परीक्षा की तैयारी करनी है, अतः जब तुम प्रातःकाल स्नान के लिए जाती हो तो हमे उठाकर जाना।" दादी माँ ने कहा, "देखो हम केवल एक या दो बार ही तुम्हें उठाएँगे, तुम तुरंत उठ जाना और हमारे उठाने के बाद तुम सोना नही"। लड़का बोला, "अरे नहीं, तुम क्या बात करती हो, हमारी परीक्षा है, हमें तो अवश्य ही उठना है"। दूसरे दिन प्रातःकाल 4 बजे गंगास्नान के लिए जाने से पूर्व दादी माँ ने जगाया और कहा, "अब उठ जाओ, मैं जा रही हूँ। दादी का यह कहना – लड़के ने सुना जरूर, लेकिन सर्दी के दिनों इतना सबेरे उठना, वो भी ऐसी नरम गरम रजाई से, सोने का जो आनंद आ रहा था उससे अलग होना कोई आसान बात नहीं थी। तोड़ी का "सा रे ग" – यही सूचित करता है कि वह लड़का अभी उठना नही चाहता, "उठें या थोड़ी देर और सो लें" वह अभी ऐसी अवस्था में ही है। यह सोच कर ऊँघते हुए उसने जो करवट बदली वही है "म॑ प ध"। करवट बदलते ही उसे दादी माँ का कहना याद आया और उसने निर्णय

किया कि अब मैं उठ ही जाता हूँ और उठना ही "नीऽसां" है। आरोह पूरा होने पर लड़के ने पुनर्विचार किया कि अभी उठना इतना जरूरी क्यों है? कोर्स तो मैंने पूरा ही कर लिया है। सभी प्रश्न मैं हल कर सकता हूँ। बस, एक बार रिवाइज़ करना है। इस विचार से तोड़ी का अवरोह शुरू होता है – सां नी ध। लड़का पुनः खाट पर बैठ जाता है – प म। रज़ाई तो अभी गरम ही थी, आराम से वह पुनः रज़ाई में घुस कर सो जाता है – ग रे सा। तोड़ी के आरोह व अवरोह की यह कहानी दादा जिस प्रकार सम्पूर्ण कायिक व वाचिक अभिनय करते हुए सुनाते थे, उससे राग के स्वरों के स्थान व भाव, शिष्य के मस्तिष्क में यथावत बैठ जाते थे।

बच्चों को सुगम व रूचिकर लगने वाले अनेक सरगम गीतों की रचना भी दादा ने की थी। इन सरगम गीतों को वे एक कहानी का आधार लेकर सिखाते थे जिससे सरगम में बच्चों की रूचि भी बनी रहती थी तथा कहानी में होनेवाली विविध क्रियाओं द्वारा राग का स्वरूप व बंदिश की गति भी स्पष्ट हो जाती थी। सरगम गीतों के अतिरिक्त बालकों को रूचिकर लगने वाले विषयों से सम्बन्धित बालगीत, दादा ने स्वयं भी लिखे तथा संग्रह भी किए, और उन्हें सरल धुनों में बाँधकर उन्हे बच्चों को गाने के लिए प्रोत्साहित किया। बच्चों को संगीत सिखाने की विधि भिन्न होनी चाहिए, इस आवश्यकता को अनुभव करनेवालों में दादा, अपने समय में अग्रणी थे। बच्चों के लिए संगीत किस प्रकार रूचिकर बनाया जाय, इस क्षेत्र में दादा ने अनेक प्रयोग किए थे। उनका विचार था कि बच्चों के समक्ष संगीत के शास्त्रीय पक्ष को प्रमुख न करके उसके रंजन पक्ष को उजागर किया जाना चाहिए। अनेक समूहगान की स्वररचना भी दादा ने इसी उद्देश्य से की थी जिससे बच्चों की संगीत के प्रति रूचि बढ़े। प्रायः समूह में गाने का बच्चों को विशेष उत्साह रहता है। विशेष रूप से देशभक्ति के गीत, जिनकी बड़ी ओजपूर्ण स्वररचना दादा ने की थी, बच्चों को अत्यन्त रूचिकर लगते थे।

संगीत के युवा विद्यार्थियों को शिक्षण देने के लिए दादा की बड़ी सुव्यवस्थित पद्धति थी। कोई नया राग सिखाते समय वे पहले एक सप्ताह तक राग के स्वर, उसका चलन, ठाठ, वादी, संवादी स्पष्ट करते हुए उसके आलाप करवाते थे। राग का एक एक आलाप स्वयं करके वैसा ही विद्यार्थी से करने को कहते थे। इसके बाद बड़ा ख्याल सिखाते थे। ख्याल का थोड़ा स्वरूप स्पष्ट होने पर स्वयं तबला-डग्गा

बजाकर ख्याल को तालबद्ध करके सिखाते तथा ताल के अन्तर्गत आलाप, एवं तान की पद्धति विद्यार्थी को बताते थे। ख्याल में विद्यार्थी स्वयं आलाप की शुरुआत कर सके, इस दृष्टि से वे विलम्बित अथवा द्रुत ख्याल को आकार, ईकार व ऊकार में गाने के लिए कहते थे। उदाहरणार्थ राग भीमपलासी का विलम्बित ख्याल 'अब तो बड़ी देर भई' को पहले आकार में गाकर फिर उन्हीं स्वरों को क्रमशः छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त करके स्थाई की बढ़त करने के लिए आलाप का रूप दे देते थे। इसका परिणाम यह होता था कि प्रारम्भ में विद्यार्थियों को अपने मन से आलाप करने का जो भय रहता है, तथा हर आलाप एक प्रश्नचिन्ह की तरह खड़ा रहता है, वह नहीं रह जाता था। बंदिश का कुछ आधार मिल जाने पर, फिर उसी रीति से कुछ नवीनता लाते हुए, उसे कैसे बढ़ाना यह वे स्वयं करके बताते थे। इस रीति से विद्यार्थी में आत्मविश्वास आता था कि "मैं भी कुछ सूझ रखता हूँ और स्वयं आलाप की रचना कर सकता हूँ"। आलाप के बाद वही बात वे ख्याल के बोलों के साथ उसे कहने के लिए बताते थे। बोलों में गति थोड़ी बढ़ाकर कहना होता है, इस पद्धति से वे सिखाते थे। उनके गाने में इतनी विविधता थी जैसे तान लेते हुए वे एक ही टुकड़े को – नीसागमपनी, नीसागमप, गमपनी, नीसागम, गमप, सागमप, गमपनीसां.... आदि विविध रूप से लेते थे। इसी प्रकार अवरोह के भी टुकड़े बनाकर आरोह के एक टुकड़े से अवरोह के अन्यान्य टुकड़ों का मेल बैठाते हुए वे नई नई तानों की सृष्टि करते थे। इस क्रिया से विद्यार्थी को तानों में नवीनता लाने की विधि पता चलती थी। उसे स्वयं सोचने का रास्ता मिल जाता था। इसके बाद विविधता के लिए वे इन तानों को अलग अलग लयकारी में भी बताते थे। उनका गाना लय से एकदम चिपका रहता था। सम्पूर्ण आवर्तन के बाद जो मुखड़ा आनेवाला है, उसका ध्यान रखते हुए वे तानों के विविध नमूने बनाते थे। किसी राग की पूरी तालीम होने के बाद ही यह बताते थे कि इसके करीब के कौन-कौन से राग है और उनसे किस प्रकार बचा जा सकता है। प्रारम्भ से ही यदि आसपास के अनेक रागों की चर्चा कर दी जाय, तो विद्यार्थी भ्रमित हो सकता है, तथा अपने राग के प्रति आश्वस्त नहीं हो सकेगा।

दादा की स्वरों पर बड़ी बारीक नज़र थी। कोई स्वर थोड़ा भी इधर उधर होने पर वे तुरन्त इंगित करते थे और जब तक विद्यार्थी उसे ठीक न कर ले, वे

आगे नही बढ़ते थे। स्वर के साथ ताल पर भी अधिकार होना चाहिए इस दृष्टि से वे गायन के विद्यार्थियों को भी तबला सीखने के लिए प्रेरित करते थे। राग के स्वरूप को समझाते हुए उसके भावपक्ष की भी वे खुलकर चर्चा करते। इस प्रकार एक राग एक महीने तक चलता था और इस अवधि में उस राग का किस प्रकार विस्तार करना यह भी विद्यार्थी, अच्छी प्रकार से सीख जाते। जब तक विद्यार्थी को उस राग के आलाप व तान में सहजता न आ जाय, तब तक वे उसी राग को सिखाते थे। पहला राग यदि इस पद्धति से विस्तारपूर्वक हो जाता था तो आगे नए राग सीखने में सुविधा रहती थी। दादा को बंदिशें संग्रह करने का बड़ा शौक था। वे विद्यार्थियों को भी एक ही राग की तीन-चार बंदिशें सिखाते थे। इन बंदिशो के माध्यम से विद्यार्थी राग के अन्यान्य चलन भी जान जाता था। दादा ने अपनी शिक्षणपद्धति अपनी प्रयोगशील प्रकृति एवं प्रतिभा से निर्माण की थी।

सन 1926 में जब दादा ने कानपुर में एक संस्था के अन्तर्गत संगीत शिक्षण का आरम्भ किया, उस समय एक अभ्यासक्रम के अन्तर्गत शास्त्रीय संगीत का शिक्षण सर्वथा कल्पनातीत था। संगीत तो मनचले लोगों का व्यसन माना जाता था। विधिवत शिक्षण एवं अभ्यास द्वारा उसमें प्रवीणता पाई जा सकती है, अथवा उसमें मनोरंजन के साथ-साथ आत्मिक आनन्द एवं आत्मविकास का भी पक्ष निहित है ऐसी दृष्टि ही नही थी। कानपुर में सर्वप्रथम पं. पृथ्वीनाथ इण्टर कॉलेज में तत्कालीन प्रधानाचार्य पं. पृथ्वीनाथजी के प्रयास से एक संगीत शिक्षक के पद का निर्माण हुआ और दादा ने उस पद को सम्हालते हुए क्रमशः आठवे दर्जे तक के विद्यार्थियों को एक अभ्यासक्रम के अन्तर्गत संगीत शिक्षा देना आरम्भ किया। आगे चलकर 1950 में सर्वप्रथम हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट में संगीत शिक्षा के अभ्यासक्रम एवं परीक्षाविधि का निर्धारण हुआ। संगीत विषय को क्रमशः एम.ए. उपाधि तक पहुँचाने में दादा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। सन 1954 में कानपुर के प्रथम महिला विद्यालय – सुरेन्द्रनाथ सेन बालिका विद्यालय में स्नातक स्तर की संगीत कक्षाएँ दादा ने ही आरम्भ की, तथा जुहारी देवी परास्नातक कॉलेज में संगीत की एम.ए. कक्षाएँ भी दादा ने ही सन 1969 में आरम्भ की। इससे स्पष्ट है कि शिक्षण-संस्थाओं में संगीत की उर्ध्वमुखी यात्रा में दादा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। संगीत शिक्षक होने के नाते दादा नगर की अनेकानेक शिक्षण-

संस्थाओं से जुड़े रहे। उदाहरणार्थ मेथॉडिस्ट हाइस्कूल, पी.पी.एन. इन्टर कॉलेज, एस.एन. सेन बालिका विद्यालय, जुहारीदेवी गर्ल्स कॉलेज, ओमर वैश्य कॉलेज एवं गाँधी संगीत विद्यालय। गाँधी संगीत विद्यालय तो उनकी अपनी ही संतान थी। स्व. पं. लालमणि मिश्रजी के साथ मिलकर उन्होंने 16 अगस्त सन 1948 में "कराचीखाना" के एक म्यूनिसिपल स्कूल का एक कमरा लेकर 'गाँधी संगीत विद्यालय' का आरम्भ किया था। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के निधन के बाद उनकी स्मृति में इस संगीत विद्यालय का नाम 'गाँधी संगीत विद्यालय' रखा गया था। यह विद्यालय आज भी कानपुर का सबसे बड़ा संगीत विद्यालय है जहाँ गायन, वादन व नृत्य, सभी विद्याओं की शिक्षा होती है।

उत्तम शिक्षक होने के नाते वे विद्यार्थी में उन गुणों को परख लेते जिससे यह निश्चित किया जा सकता था कि वह संगीत सीखकर संगीत के किस क्षेत्र में प्रगति करेगा। उनका कहना था कि जो विजिगीषु है वही गायक बन सकता है। ऐसा स्वभाव शिक्षा द्वारा नही बनया जा सकता। वह तो अन्तःप्रेरणा से स्वयं ही सिद्ध होता है। दादा को इस बात से बेहद् खुशी होती थी कि आधुनिक युग में उच्च शिक्षा प्राप्त इंजीनियर और डॉक्टर भी संगीत में रूचि लेते हैं और अभ्यास में तत्पर होते हैं। इससे निश्चय ही संगीत कला को प्रतिष्ठा मिलती है और साथ ही शिक्षा के साथ संस्कृति का योग होता है। जनवरी 1927 मे ठा. जयदेवसिंह और नगर के कुछ संगीतप्रेमी एवं सुरूचि सम्पन्न व्यक्तियों के सहयोग से दादा ने 'संगीत समाज' नामक संस्था का गठन किया था। इसके माध्यम से वे अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त शास्त्रीय संगीत के कलाकारों के कार्यक्रम कानपुर नगर में आयोजित करते थे। शास्त्रीय संगीत के प्रति जनरूचि का विकास करने में इन कार्यक्रमों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इसके साथ ही 'संगीत समाज' नाम से एक मासिक पत्रिका का भी सम्पादन होता था। 'संगीत समाज' तथा 'संगीत कलाविहार' आदि पत्रिकाओं में प्रायः दादा के लेख निकला करते थे। इन लेखों के कुछ अंश इस पुस्तक में दिए गए हैं।

दादा ने कुछ दिन पं. उदयशंकरजी के साथ रहकर उनके सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लिया था। स्व. पं. विष्णुदास शिरालीजी के सहायक संगीत-दिग्दर्शक के रूप में भी उन्होंने कार्य किया था। सन 1942 के आसपास स्वतंत्रता संग्राम जोर

पकड़ रहा था। गोरों को हटाने की हवा चल चुकी थी। भारतीय जनता में बहुत जोश था। दादा भी अपने मुहल्ले का जनसमाज बटोर कर प्रभातफेरी निकालते थे। प्रभातफेरी में 'उठ जाग मुसाफ़िर भोर भई' एवं 'कदम कदम बढ़ाए जा' आदि जन-जागरण एवं देशप्रेम के गीतों में दादा का स्वर ऊँचा रहता था। कानपुर नगर में होने वाले राजनैतिक सम्मेलनों में तानपुरा अथवा स्वरपेटी लेकर खड़े होकर राष्ट्रगान गानेवालो में दादा सदैव अग्रणी रहे। इस प्रकार स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने वाले दादा एक बिरले शास्त्रीय संगीतज्ञ थे।

दादा की बनाई हुई बंदिशों में सरगम गीत एवं ख्यालों के अतिरिक्त बालगीत, देशगान एवं भजन प्रमुख हैं। दादा के भजनों की धुनें बड़ी मधुर होती थी। उनके मराठी भजन का मॅक्सीटोन कंपनी का एक 75 R.P.M. का रिकार्ड भी बना था। कृष्ण की बाल लीला से सम्बन्धित अनेक भजनों को उन्होंने क्रम से विविध रागों में स्वरबद्ध किया था जिसे कि रेडियो-नाटक के रूप में भी प्रस्तुत किया गया। वह आज भी नृत्य नाटिका के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार मीरा ऑपेरा में भी उनके स्वरबद्ध किए हुए भजन अत्यन्त मार्मिक हैं।

दादा की आवाज बड़ी मधुर एवं ज़वारीदार थी। वे अपनी साफ सुथरी एवं सहज आकारयुक्त आवाज़ में ग्वालियर घराने की गायकी गाते थे।

महाराजजी के शिष्यों में पं. नारायणराव व्यास, पं. विनायकराव पटवर्धन, पं. ओंकारनाथ ठाकुर आदि गायकों की शैली भिन्न भिन्न थी, यद्यपि वे सभी ग्वालियर घराने के थे। दादा की लय ग्वालियर की चढ़ी हुई लय थी। दादा ने अनवट राग कभी नही गाए। परन्तु उनके यमन, बिहाग एवं भैरव में भी बड़ी विविधता थी। बंदिश के मुखड़े वे अलग अलग प्रकार से उठाकर आते थे। उनकी तानों में बड़ी विविधता व रोचकता रहती थी। द्रुत तानों के विषय में उनका कहना था कि "द्रुत तान लेने का यह मतलब नहीं है कि आप स्वरों को दुर्लक्षित करें। द्रुत की भी एक सीमा होती है। जब तान अथवा ठेके में अस्पष्टता आने लगती है तब वह संगीत के क्षेत्र से हटकर शोरगुल हो जाता है।" संगीत में होने वाले नए परिवर्तनों के प्रति वे सदैव सजग रहते थे तथा उनका मूल्यांकन करते हुए उन्हें आत्मसात भी करते थे।

⌘

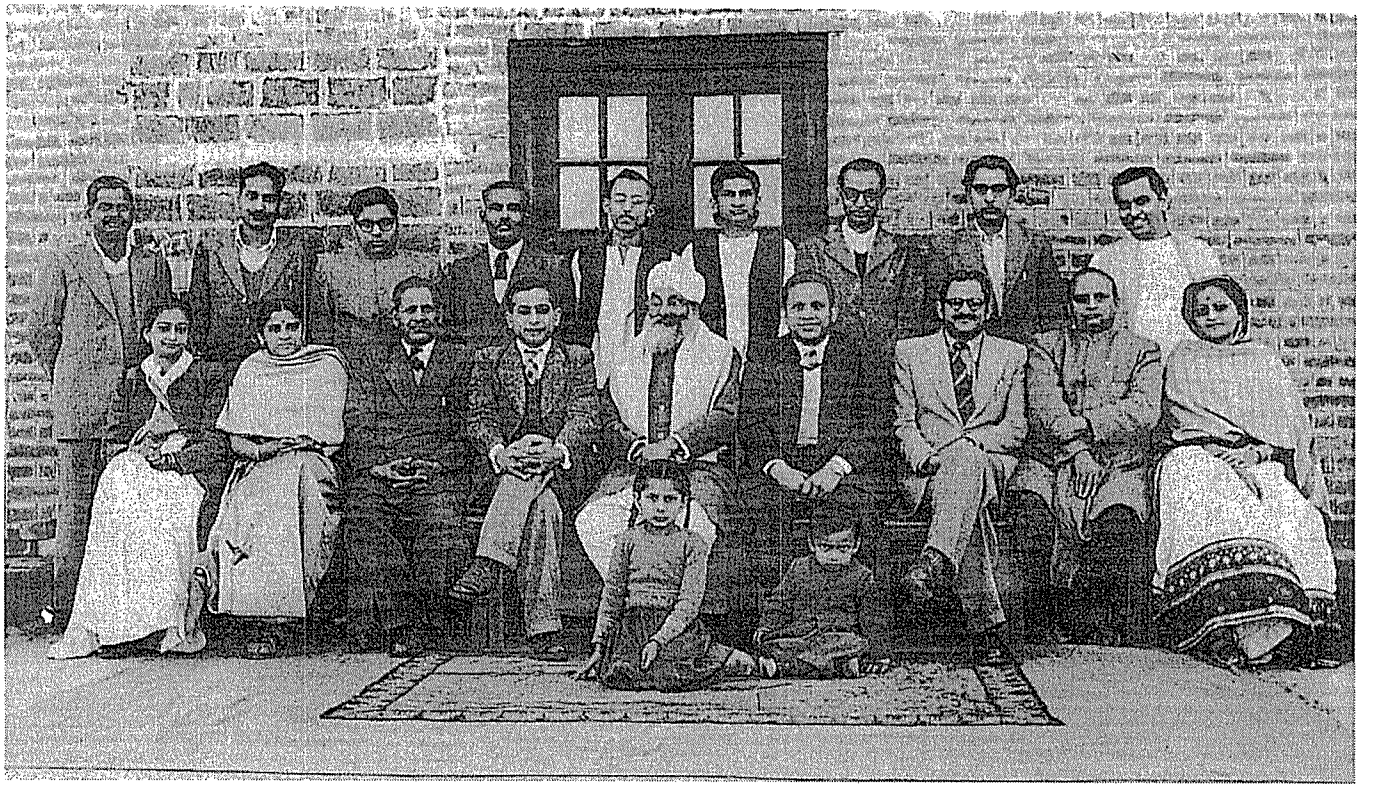

गांधी संगीत महाविद्यालय के सभी शिक्षकगण

विभाग 3

ऐसे हैं हमारे तात्या

स्व. पं. काशीनाथ शंकर बोडस

स्व. पं. कुमार गंधर्व

मेरे गुरु – पूज्य भैयाजी

स्व. पं. वसंतराव ठकार – एक अनोखा व्यक्तिमत्त्व

स्व. पं. गजाननबुवा जोशी

शास्त्रीय संगीत में नवनिर्मिति

– लेखिका : वीणा सहस्रबुद्धे

ऐसे हैं हमारे तात्या

काशीनाथजी और वीणा

मेरे पूज्य बड़े भाईसाहब पं. काशीनाथ शंकर बोडस जी के पचासवे जन्म दिवस के उपलक्ष्य में उनके अभिनंदन कार्यक्रम का आयोजन किया है इस बात की मुझे एक ओर तो खुशी हो रही है, – दूसरी ओर उसमें प्रत्यक्ष रूप में सम्मिलित न हो पाने का खेद भी है।

भाईसाहब को ज्यादातर लोग "छोटे मासाब" नहीं तो "तात्या" के नाम से जानते हैं। भाईसाहब का प्रसन्न व्यक्तिमत्त्व और विनोदी स्वभाव तो मुझे लगता है लोह चुंबक के समान सभी को अपने पास खींच लेता है। वे जब एक-एक मज़ेदार बातें बताने लगते हैं तो सुनने वाला हँस-हँसकर लोट-पोट हो जाये लेकिन इनके चेहरे पर बिलकुल हँसी नहीं होती। घर में जब मेरे भाईसाहब नहीं रहते तो घर सूना-सूना सा लगता। उनकी उपस्थिति और उनकी बोलने की शैली ही कुछ ऐसी थी कि वातावरण आनंदमय हो उठता। वे औरों की बातें ऐसे चाव से सुनते हैं मानों किसी संगीत के कार्यक्रम का आनंद उठा रहे हों। स्वाभाविक है, बोलने वाले व्यक्ति को ऐसा लगता है कि वे कितनी मनोरंजक व महत्त्वपूर्ण बात भाईसाहब को बता रहे हैं।

हम दोनों में तेरह वर्ष का अंतर है। आयु में इतने बड़े होने पर भी उन्होंने अपने स्वभाव से मुझे इसका कभी भी आभास नहीं होने दिया। भाईसाहब ने मुझे

अपनी गोद में खिलाया, मेरे सब हठ पूरे किये, आठवीं कक्षा तक स्कूल छोड़ने और लेने का काम तो भाईसाहब ही किया करते थे। पूज्यनीय दादाजी (मेरे पिताजी) तो अपने काम में इतने व्यस्त रहते थे कि किसी प्रकार की कोई बात मुझे यदि कहनी होती तो मैं या तो भाईसाहब से नहीं तो पूज्यनीया "आई" (माँ) से कहती। भाईसाहब ने मेरे संगीत की सभी परिक्षाओं की तैयारी करवाई। सभी परिक्षाओं में तबले पर संगत भाईसाहब ही करते थे। 1971 में आकाशवाणी संगीत प्रतियोगिता की भी तैयारी उन्होंने ही करवाई।

हमारे यहाँ संगीत जगत के मेहमानों का तो जैसे ताँता ही लगा रहता। पूज्य दादाजी के सरल स्वभाव और प्रेम से खिंचकर विभिन्न घरानों के जागतिक कीर्ति के कलाकार हमारे यहाँ आते। मेरे भाईसाहब यह रहस्य अच्छी तरह जानते थे कि यदि तानपुरा छेड़ दिया जाय तो कोई भी कलाकार गाये बजाये बिना नहीं रह सकता और ठीक यही होता। इस प्रकार घर बैठे हम लोगों को उनके गायन का आनंद मिलता। किसी विशेष कलाकार को ही भाईसाहब सुनते थे ऐसा नहीं था। हर कलाकार को सुनकर इस कलाकार में क्या अच्छी बात है, इसकी चर्चा वे मुझसे करते थे। केवल गायक, कलाकार को ही वे सुनते ऐसा नहीं था, अपितु सितार, सरोद, व्हायलिन, शहनाई, बाँसुरी, तबला, मृदंग सबका उतनी ही तन्मयता से आनंद लेना उनके स्वभाव में है।

तानपुरा इस वाद्य का मज़ा क्या है? वह किसलिये है? तानपुरे को कैसे मिलाना, कैसे छेड़ना चाहिये? उसमें स्वरों की आकृति बनती है इसका अर्थ क्या? – इन सब बातों में भाईसाहब अत्यंत ध्यान देते हैं। रागों के अनुरूप तानपुरे के तारों को मिलाने का नया उपक्रम मैंने अपने भाईसाहब को ही करते देखा है। तानपुरे से वातावरण निर्मिति होती है। तानपुरे का इतना महत्त्व क्यों है – इसके विषय में वे कहते "तानपुरे नहीं मिलेंगे तो मैं गाऊँगा क्या" – जो तानपुरे पर इतना ध्यान देता हो स्वाभाविक है उसको स्वरों से उतना ही प्रेम होगा। भाईसाहब का स्वरों से अत्यधिक निकट का संबंध है।

स्वर, राग की उनकी अपनी कुछ अलग कल्पना है। प्रत्येक राग को एक ही प्रकार से गाना उन्हें मान्य नहीं। राग का स्वभाव क्या कहता है, उसका चलन कैसा है वैसे ही उसको प्रस्तुत करना चाहिये। – इन सब बातों का उन्होंने गहरा

मनन किया है। स्वरों के विषय में उनका कहना है – "किसी भी राग का कोई स्वर जब तक उस बिन्दु पर नहीं लगता तब तक उसका प्रभाव नहीं दिखता। स्वर सही बिन्दु पर लगा है कि नहीं यह मुझे बताने की आवश्यकता नही। इसकी गवाही तुम्हारे कान ही तुम्हें देंगे।" ये सभी बातें अनुभव की हैं। अनुभव किए बिना उसका आनंद आ नहीं सकता।

बंदिश संग्रह करने का भाईसाहब को बड़ा शौक है। जहाँ भी नई बंदिश मिले, तुरन्त वे सीखने को तत्पर रहते हैं। बंदिश का स्वभाव कैसा है, उसे कैसे पेश करना चाहिये इस बात की ओर भाईसाहब का विशेष ध्यान रहता है। उन्होंने स्वयं कई रागों में ख्याल व तरानों की रचना की है। जैसे राग मधुकौंस, श्यामकल्याण, नटभैरव, मारुबिहाग, मालकौंस, मेघमल्हार, कलावती, मियाँमल्हार, जोगकौंस, देसकार, ऐसी अनेक रचनायें हैं। मैंने उनकी रचनायें अनेक मैफ़िलों में गाई हैं और रचनाओं को विद्वानों ने सराहा है।

शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त भजन से उनका अपना एक अलग ही नाता है। उन्होंने कम से कम 500 भजनों की स्वयं स्वररचना की है। 1968 से पहले आकाशवाणी पर सुगम संगीत के कार्यक्रम के लिये आकाशवाणी की ओर से नौ/दस भजन तथा गीतों के शब्द भेजे जाते थे। गायक से यह अपेक्षा होती थी कि वह उन्हें संगीतबद्ध करे (या करवाये) और गाये। कई बार कुछ रचनाओं के शब्द गेय नहीं लगते। लेकिन निसर्गतः भाईसाहब को यह गुण भगवान की ओर से मिला है कि किसी भी प्रकार के गीत के शब्द हों, वे शब्दों के अनुरुप बड़ी सुंदर स्वररचना कर देते। कई भजन तो उनके मिनटों में इतने सुंदर बैठते हैं कि लगता है उस भजन की धुन पहले से ही उनके दिमाग में जैसे बैठी हुई हो। हार्मोनियम पर हाथ रखा और शुरु हो गये – इस प्रकार कई धुनों की रचना करते हुए मैंने स्वयम् उन्हें सुना है।

उन्होंने स्वर दिये हुए कई भजन मैंने मैफिलों में गायें हैं और लोगों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उदाहरणार्थ, "घट घट में पंछी बोलता", "गगन की ओट", "साधो यह तन ठाठ तंबूरे का" – ऐसे और भी अनेक भजन हैं। उनके कुछ गीत लोकगीतों पर आधारित है। जैसे – "उमरिया बिन खेवट की नैया" कुछ शास्त्रीय संगीत के रागों पर आधारित है, जैसे – "श्रीरामचन्द्र कृपालु भज

मन", "उठ तो चले अवधूत"। कुछ अन्य एकतारे पर गाने योग्य हैं। जैसे – "दो दिन का जग में मेला"। गाने में विविधता चाहिए, लेकिन यह सब करते हुये शास्त्र को नहीं छोड़ना चाहिये। भाईसाहब का यह विचार उनके ख्याल गायन और गीत और भजन दोनों में ही प्रकट होता है।

मुझे कार्यक्रमों के लिये उनकी तैयारी देखने का, तथा उनके पीछे तानपुरा बजाने का भी बहुत अवसर मिला है। कार्यक्रम का किसी भी प्रकार का तनाव (tension) उन पर कभी दिखाई नहीं दिया। बाहरी परिस्थिति कैसी भी हो, तानपुरे अच्छे मिलने पर वे इतने गाने में तन्मय हो जाते कि सब कुछ भूलकर स्वरों में खो जाते।

लखनऊ में आकाशवाणी के तत्त्वावधान में हम दोनों ने भजनों के कई कार्यक्रम दिये। उसी में से एक प्रसंग याद आता है। लखनऊ के रवीन्द्रालय में गुरू नानक जयंती पर कार्यक्रम था। गुरु नानक का एक भजन हम दोनों को युगल स्वरों में गाना था। शुरु में आलाप मुझे लेने थे। मैंने वह आलाप मध्यम को 'सा' मानकर ले डाला। ऐसा करने से उसका पूरा रूप ही बदल गया। मुझे मेरी गलती समझ में तो आयी, लेकिन उसको कैसे सुधारूँ यह समझ में नहीं आ रहा था। स्थिति को पहचानकर भाईसाहब ने तुरंत कुछ आलाप उस भजन से संबंधित ऐसे लिये कि मेरी गलती छिप गयी और जो स्वर मुझे चाहिये था, वह मिल गया। बस – मैंने भजन चालू कर दिया। श्रोताओं ने कार्यक्रम के अंत में कहा "वाह! क्या दो रागों का सुंदर मिश्रण किया।" मैं और भाईसाहब दोनों मन ही मन हँस रहे थे।

जब मैं दस वर्ष की थी, तब भाईसाहब गायन के अलावा तबले का बड़े ज़ोर से रियाज़ करते थे। तबले में वे "संगीत विशारद" हैं। पू. स्व. लालमणि मिश्रजी से भाईसाहब ने सितार पर हाँथ रखना भी सीखा। गाँधी संगीत महाविद्यालय के वाद्य वृन्द में आपने तबला-तरंग बजाया हुआ भी मुझे याद आता है।

कानपुर के महाराष्ट्र मंडल की ओर से आयोजित 1966 के गणेशोत्सव में मैंने और भाईसाहब ने संगीत नाटक 'संशयकल्लोळ' का पहला प्रवेश किया था। मैंने रेवती का और भाईसाहब ने आश्विनशेट का अभिनय किया था। दिग्दर्शक श्री. अनंत वर्तक थे। हम लोगों ने रिहर्सल तो बहुत किया था, लेकिन मराठी

बोलने की आदत न होने के कारण हम दोनों ही बड़े tension में थे। पर्दा उठते ही आश्विनशेट (भाईसाहब) का लंबा स्वगत भाषण है। पर्दा खुल गया, भाईसाहब छड़ी लेकर रंगमंच पर घूम रहे हैं और पहला वाक्य याद नहीं आता। पर्दे के अंदर से श्री. वर्तकजी ने पहला शब्द बताना काफी था कि भाईसाहब की गाड़ी जो चालू हो गई वह नाटक के अंत तक अड़ी नहीं। नाटक बड़ा सफल रहा। विशेष बात यह कि ऑर्गन पर पूज्य स्व. दादाजी थे।

भाईसाहब का सिखाने का भी अपना एक सुव्यवस्थित ढंग है। सर्वप्रथम किसी राग को सिखाने से पूर्व उसके स्वरों को विद्यार्थी के गले में उतारना। तत्पश्चात ख्याल की बंदिश सिखाकर ताल के साथ-साथ स्वरों का भराव कैसा होना चाहिये, उसके आलाप स्वयम् गाकर बताना। फिर बोल आलाप, तान बोलतान बहलावे आदि।

विशेष बात यह कि हर विद्यार्थी को उसकी योग्यतानुसार ही भाईसाहब सिखाते हैं। क्योंकि प्रत्येक विद्यार्थी का आवाज़ का गुण अलग-अलग होता है। उसी प्रकार गृहण शक्ति भी अलग-अलग होती है। स्वयम् तबला बजाकर गायन सिखाने की स्व. दादाजी की परंपरा भाईसाहब ने चालू रखी है। उससे विद्यार्थी का ताल ज्ञान भी पक्का हो जाता है। विलम्बित, मध्य लय या द्रुत – झूमरा, तिलवाड़ा, झपताल किसी भी लय में और किसी भी ताल में भाईसाहब सहजता से स्वयं तबला बजाकर गा लेते हैं। मैंने तबले पर हाथ रखना भाईसाहब से ही सीखा।

गायन के ही समान तबले के बारे में भी भाईसाहब की सौंदर्य विषयक दक्षता उल्लेखनीय है। तबले का नाद कैसा होना चाहिये, बाँये का उपयोग, बोलों का वज़न एवं स्पष्टता, विलम्बित लय में दो मात्राओं के बीच का भराव, तबले का सुर में मिलाना सभी बातों का उन्हें ध्यान रहता है। – यह सब बातें उन्हीं से मुझे भी सीखने को मिली।

कलाकार के रुप में पं. कुमार गंधर्व ही भाईसाहब के आदर्श हैं। कुमारजी का अक्सर साल दो साल बाद हमारे घर चक्कर लगता। वे जब घर पर आते फिर तो आप भाईसाहब का हाल पूछिये ही नहीं। हमेशा उन्हीं के ही इर्द-गिर्द घूमा करते। उनके साथ तानपुरे पर इस क्षेत्र के सभी कार्यक्रमों में भाईसाहब ही

होते हैं। भाईसाहब के गायन में कुमारजी की छाप स्पष्ट दिखती है। घर में कुमारजी के वास्तव्य के बाद भाईसाहब अंतर्मुख हो जाते और कहते – "कुमारजी के तानपुरे, उनके स्वरों का लगाव, उनकी ज़ोरदार तानें ये सब सुनने के बाद ऐसा लगता है कि गाना बजाना हम लोगों को छोड़ देना चाहिये।"

भाईसाहब के चुंबकीय आकर्षण के बारे में पहले कह चुकी हूँ। इसी के साथ-साथ लोग अपने घर आयें, सम्मिलित रुप से हास्य-विनोद, गाना-बजाना हों यह उन्हें बहुत अच्छा भी लगता है। उनका यह शौक हमारी पू. सौ. संगिताभाभी भी उतने ही प्रेमपूर्वक सबकी आवभगत करके निभाती हैं। भाईसाहब भावुक हैं जैसे कलाकार अक्सर होते हैं। भाभी ही हर प्रसंग में उन्हें उचित सलाह तथा प्रोत्साहन देती रहती हैं। उसी प्रकार चि. प्रशान्त व संदीप भी मेहमानों की आवभगत में अपना सहयोग देते हैं। पूज्यनीय 'आई' (माँ) ने शुरू से ही भाईसाहब को उनके गुणों को पहचानकर प्रोत्साहित किया है। उनका आत्मविश्वास बढ़ाने में पू. आई का बड़ा हाँथ है। पू. स्व. दादाजी के पुण्य फल और आशीर्वाद से सभी कुटुंबीय तानपुरे के तारों की भाँति बहुत सुर में हैं।

आज के इस शुभ अवसर पर भाईसाहब को बधाई देते हुये और ईश्वर से उनके दीर्घायु और आरोग्य की प्रार्थना करते हुये अपना छोटा सा लेख पूर्ण करती हूँ।

पं. काशीनाथ शंकर बोडस अभिनंदन समारोह, 1955

⌘

स्व. पं. काशीनाथ शंकर बोडस

गायक व नायक

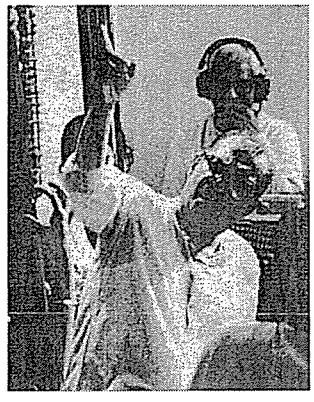

स्व. काशीनाथ बोडस मेरे एक मात्र भाई थे। उम्र में मुझसे बहुत बड़े होने के कारण, मैं उन्हें 'तात्या' कहकर बुलाया करती थी। काशीनाथ जी चूँकि उत्तर प्रदेश के कानपुर नगर में सदैव रहे अतः महाराष्ट्र के श्रोताओं ने उनका गायन अधिक नही सुना। पिछले 15-16 वर्षो में उनकी जो इनी गिनी महफ़िलें पुणे, बम्बई व बेलगांव आदि स्थानों में हुई उसे लोगों ने बहुत पसंद किया। पुणे में स्थायिक होने से पहले मैं भी कानपुर में ही थी और मैंने उनकी बहुत सी महफ़िलों में तानपूरे पर उनकी संगत की थी। उन्होंने बहुत सी बन्दिशों व चीजों की रचना की है। उसके साथ ही हिन्दी भजन – सगुण एवं निर्गुण, हिन्दी साहित्यिक गीत, देशभक्ति के गीत एवं अभंग आदि बहुत सी रचनाओं को स्वरबद्ध करने का श्रेय उनको जाता है। इन रचनाओं को मैं प्रायः अपनी महफिलों में तो सुनाती ही रही हूँ परन्तु आज मैं उसमें से चुनी हुई कुछ रचनाएँ तथा उन्हें वे कैसी सूझती गई यह भी संक्षेप में बताना चाहूँगी।

गाने की प्रारम्भिक शिक्षा उन्होंने अपने पिता स्व. पं. शंकर श्रीपाद बोडस जी से ही ली थी। मेरे संगीत की शुरूआत जैसे कत्थक नृत्य से हुई थी, वैसे

काशीनाथ जी के संगीत का आरम्भ तबले से हुआ। कानपुर के ही स्व. पं. लालमणि मिश्र से उन्होंने तबले की विधिवत शिक्षा प्राप्त की थी। फलतः उनका लय व ताल का ज्ञान बहुत पक्का था। वे लय व ताल का पूरा आनन्द उठाते थे। मेरे पिता जी ने कानपुर में 'संगीत समाज' संस्था की स्थापना की थी, जिसके अन्तर्गत भारत के ख्याति प्राप्त कलाकारों के कार्यक्रम आयोजित होते थे। मेरे माता-पिता के स्नेह सम्बन्धों एवं आतिथ्यपूर्ण स्वभाव के कारण ये सभी कलाकार हमारे घर पर ही ठहरते थे। मेरे पिताजी के गुरुबन्धु स्व. पं. नारायणराव व्यास, पं. कशाळकर, स्व. पं. विनायकराव पटवर्धन, स्व. ओमकारनाथ ठाकुर, स्व. पं. वामनराव ठकार, स्व. पं. बी.आर. देवधर, इसके अतिरिक्त पं. रवीशंकरजी, उस्ताद अली अकबर खाँ साहेब, पं. वी. जी. जोग, स्व. पं. गजाननराव जोशी, पं. बापूराव पलुस्कर, स्व. पं. कुमार गंधर्व, पं. वामनराव सडोलीकर, स्व. निवृत्तिबुआ सरनाईक, पं. भीमसेन जोशी और पं. बसवराज राजगुरू ऐसे अनेक कलाकारों का हमारे घर आना-जाना और गाना-बजाना होता था। विशिष्ट बात यह है कि किसी एक घराने के ही कलाकार हमारे घर आते हो, ऐसा नहीं था। हम दोनों भाई-बहनों को पिताजी सभी घरानों के कलाकारों का गायन सुनने के लिए प्रोत्साहित करते थे। वे बड़ी बारीकी से प्रत्येक कलाकार के गाने की विशिष्टता हमे उदाहरण सहित समझाते थे। ग्वालियर घराने की शिक्षा तो हम दोनों ने विधिपूर्वक ग्रहण की थी परन्तु उसके अतिरिक्त साफ सुथरी आकारयुक्त आवाज़, बंदिशों को गाते हुए लय एवं ताल का बारीकी से ध्यान, बोल आलाप, तानें तथा बोलतानें गाते समय आवाज़ के गुणधर्म में बदलाव न आने देना, स्वच्छ गमक युक्त तानें यह सब उन्होंने हमें सिखाया था। रागदारी संगीत के अतिरिक्त ललित (सुगम) संगीत में पाई जाने वाली बहुत सी विशिष्टताओं की पहचान भी उन्होंने हम दोनों को कराई थी। अपने संगीत शिक्षण के दौरान हमारे पिताजी ने जो कुछ नए प्रयोग किए थे, उनका भी पर्याप्त प्रभाव हम दोनों भाई-बहनों पर पड़ा था। उदाहरणार्थ,

1) छोटे बच्चों को शुद्ध एवं विकृत स्वरों की पहचान कराने के लिए कहानी सुनाने की एक नई विधि का प्रयोग।

2) बच्चों को राग में सरगम गीत याद कराने के लिए आसान सरगम गीतों की रचना करके उन्हें कथा कहानियों के माध्यम से सिखाना।

3) 'वोकल ऑर्केस्ट्रा' जैसे प्रयोगों के साथ-साथ कुछ भजनों एवं देशगीतों की धुनें बनाना।

पं. काशीनाथजी के गायन पर स्व. पं. डी.वी. पलुस्कर एवं स्व. पं. कुमार गंधर्वजी के गायन का बहुत प्रभाव दिखता है। इन दोनों ही कलाकारों का हमारे यहाँ काफी आना-जाना था। बापूराव जी के साथ तानपूरे पर संगत करने के लिए अनेक बार तात्या उनके साथ दौरे पर जाते थे। तात्या के आवाज़ की जाति एवं सरसता बहुत सी बापूराव जैसी थी। स्वच्छ, एवं निर्दोष आवाज़ उन्हें ईश्वर प्रदत्त थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने अभ्यास द्वारा भी आवाज़ पर अनेक संस्कार किए थे। तात्या मुझसे कहा करते थे कि कठिन व क्लिष्ट गाना ही अच्छा गाना है, ऐसा नहीं है। वे समझते थे कि गायन स्वच्छ, सादा, सुन्दर, सुरीला एवं अकृत्रिम होते हुए अनुशासन में होना चाहिए। इस वाक्य में जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है उन शब्दों का अर्थ हम समझने का प्रयास करेंगे। गायन स्वच्छ, सुन्दर व सुरीला होना चाहिए यह कहते ही स्पष्ट हो जाता है, कि स्वरों का निश्चित स्थान मालुम होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रातः की स्वरसाधना में हम लोग षड्ज के अनुसार सप्तक के अन्य स्वरों की ऊँचाई कितनी है, इसका भी ज्ञान कर लेते हैं। अर्थात् जिस सुर से हमें गाना है, उसका स्थान आदेशानुसार हमें गाना आना चाहिए। हर स्वर का एक स्थान होता है उस स्थान की गायक को पूर्णरूपेण कल्पना होनी चाहिए। आवाज़ पर हम कितना जोर दें कि तार गंधार अथवा अमुक स्वर निकलेगा यह हमें ज्ञात होना चाहिए। सच तो यह है, कि गायक को कल्पना जगत में उस स्वर का स्थान पहले ही दिख जाना चाहिए उसके बाद ही वह प्रत्यक्ष गायन में प्रकट होता है। यह एक प्रकार से स्वरों का चिन्तन है। घर की वस्तु जब जगह पर रखने की पद्धति होती है तब अंधेरे में भी वह वस्तु मिल जाती है। वैसे ही स्वरों का भी स्थान सुनिश्चित किया जाता है। आवाज़ में स्वच्छता, सुन्दरता मिठास, धारदार, चौड़ाई व तारता बढ़ाने के लिए स्वर साधन अत्यन्त आवश्यक है। मन्द्र स्वरों का अभ्यास करने से आवाज में गूँज आती है तथा आवाज़ नरम व साफ होती है। वैसा करने से स्वरों में ताक़त आएगी और स्वर ठीक लगेंगे। आवाज़ मन्द्र सप्तक में ठीक घूमने लगे तो फिर तार सप्तक की भी ऊँचाई बढ़ सकती है यह मेरा व तात्या का अनुभव है। प्रत्येक गायक को अपनी आवाज़ के गुणधर्म मालुम होना अत्यन्त आवश्यक है। तात्या का कहना था कि, "गला एक

प्राकृतिक देन है। एक मनुष्य का गला दूसरे के गले के समान नही होता, इसलिए दूसरे की आवाज़ का अनुकरण कभी नहीं करना चाहिए।" प्राकृतिक तरीके से बारीक गला होना अलग बात है और कृत्रिम रीति से आवाज़ बारीक करना अलग बात है। किसी भी गायक को अपनी मौलिकता को भूलकर अंधे की भाँति दूसरे का अनुकरण करने का मोह नहीं करना चाहिए। कलाकार को निरंतर आत्मनिरीक्षण एवं अखण्ड जागृति की आदत लगा लेनी चाहिए, क्योंकि संगीत कला में पारंगत होने के लिए गायन के प्रति नितान्त प्रेम, अखण्ड परिश्रम, श्रद्धा व लगन की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके साथ ही स्वयं एक आदर्श शिष्य होना भी अत्यन्त आवश्यक है। अपना गायन सुरीला हो इसके लिये यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। इसकी आदत डालनी पड़ती है। शुरू में हम यह समझ कर चलते है कि जब गाने वाले हम ही हैं, तो गाना हमें सुनाई ही देगा, परन्तु ऐसा नहीं होता है। यह क्रिया बड़े प्रयास से हस्तगत करनी पड़ती है। गाते समय हर स्वर की तरफ़ ध्यान देकर गाया जाएगा तो उसके परिणाम स्वरूप गाना अच्छा होगा यह निर्विवाद है।

रियाज़ के बारे में तात्या की कुछ बातें बहुत महत्वपूर्ण हैं। रियाज़ किस बात का करना चाहिए? कैसे करना चाहिए? कितना करना चाहिए? यह समझना आवश्यक है। किसी विद्या को सीखने की जो रीति है, उसे रियाज़ कहते हैं। इसमें समय तो लगता ही है। अपने को प्रिय लगने वाली रचनाएं अपने आनन्द के लिए गाते रहना यह रियाज़ नहीं कहलाता। अपने को न आनेवाली बात को बार-बार दोहराना, कठिन हरकत में स्वच्छ रीति से स्वर उभर रहें हैं या नहीं, यह परीक्षा करना, यही मेहनत, सच्ची मेहनत होती है। रोज़ की मेहनत में किसी नवीन बात को शुरू करना और उस बात को अपना बना लेना यही सच्ची मेहनत है। बंदिश का रियाज़, तानों के अलग अलग पॅटर्न का रियाज़, अपनी साँस बढ़े इस दृष्टि से कुछ तानों के स्वर समूह एकत्र करके महफ़िल में जिस सतर्कता से हम गाते हैं, उसी सतर्कता से यदि हम अभ्यास करें तो वह भी एक प्रकार का रियाज़ कहलाता है। उनका कहना था कि रियाज़ में स्वर की तीव्रता (Volume) पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। कौन सा स्वर किस मूल्य से आ रहा है, उसका कितना प्रभाव पड़ रहा है, आस-पास के स्वरों का उस पर कितना आघात पड़ रहा है आदि तथ्य भी बारीकी से समझना होता है। तात्या के गाने में आपको सहजता एवं

अकृत्रिमता यह गुण सर्वत्र दिखेंगे। एक बहुत बड़ी ग़लत फ़हमी यह है कि उच्चकोटि का गायक बड़ी सहजता से गाता है। कोई भी मुश्किल काम आप बार-बार करें तो उसकी मुश्किल समाप्त होकर वह सहज हो जाती है। सफ़ाई और सहजपन लाने का यही तरीका है। इसके अतिरिक्त यदि अपने काम में यश पाना है, तो उस काम में ध्यान देना बहुत आवश्यक है। उदाहरणार्थ कोई श्रेष्ठ गायक जब द्रुत तान लेता है तो तान के हर स्वर की तरफ उसका ध्यान होता है। अगल-बगल का कोई दूसरा स्वर उससे मिलने नही पाये, इसकी वह सावधानी रखता है। तान गाते हुए जहाँ गायक सावधान नहीं रहता है, वहाँ स्वर घूमिल हो जाते हैं अतः गायन की सफाई कलाकार की अखण्ड जागरुकता में है। सच बात तो यह है कि गाने का सहजपन भी उसी जागरूकता का परिणाम है।

स्व. पं. काशीनाथ जी की महफ़िल में दिखनेवाला एक और वैशिष्ट्य था उनके तानपूरों की गूँज। सुर में तानपूरा मिलाना और उसका पूरी सावधानी से प्रयोग करना मैंने उनके साथ रह कर ही सीखा। उनका कहना था कि तानपूरे का कार्य गायक के लिए संदर्भ स्वर निर्माण करना होता है। तानपूरों की गूँज से सुरीले वातावरण का गलीचा सा बिछ जाता है, जिसके ऊपर गायक का गाना उभर कर सुशोभित होता है। तानपूरा छेड़ने का भी एक तन्त्र है। तानपुरे के तार छेड़ने में उसकी गति ऐसी होनी चाहिए कि तारों से निकलने वाला नाद अखण्ड रहे। तानपूरा यदि सुर में भी ठीक न मिला हो अथवा ठीक रीति से छेड़ा न जा रहा हो तो कलाकार को गाने की इच्छा ही नही होगी। जब तानपूरा अच्छा बजता है तो तानपूरा अच्छा बोल रहा है, ऐसा कहा जाता है। जब किसी राग के प्रमुख स्वर तानपूरे पर मिलाए जाते हैं तो उससे राग का वातावरण निर्माण होता है और गायक का भाव विश्व तैयार होने में मदद मिलती है।

अब हम संगीत दिग्दर्शक की क्या आवश्यकता है तथा उसकी क्या भूमिका है, इस पर विचार करेंगे। संगीत दिग्दर्शक, अर्थात् व्यक्ति विशेष, तथा संगीत दिग्दर्शन, यह कला केवल भारत में ही नही सभी देशों में बहुत पहले से ही विद्यमान है। पाश्चात्य देशों में 'म्युज़िक कम्पोज़र' इस नाम का व्यक्ति, संगीत के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता है। आज के युग में जब से चित्रपट संगीत आरम्भ हुआ, तब से संगीत दिग्दर्शक तथा उसके कार्य को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है।

ध्रुपद, ख्याल तथा अन्य रागदारी संगीत के जो भी प्रकार हैं उनमें एक विशेष सुरावट होती है। सदारंग, अदारंग इन संगीतज्ञों ने असंख्य चीजों की, रचना की, ऐसा हम सुनते हैं। उन्होंने वास्तव में क्या किया कि शब्दों को चुन-चुन कर पद्यरचना की, फिर पद्यरचना करते-करते उसे किस प्रकार गेय बनाया जाय यह भी निश्चित किया। अर्थात पद एवं सुर की रचना उन्होंने एक साथ ही की। इन संगीतज्ञों को वाग्गेयकार कहा जाता है। स्वयं पद्य लिख कर उसे सुर देने वाला वाग्गेयकार तथा किसी अन्य के लिखे हुए पद की स्वररचना करनेवाला संगीत दिग्दर्शक कहलाता है। दोनों में यही अंतर है। तात्या ने अधिकतर बंदिशों एवं चीजों की पदरचना भी स्वयं की तथा स्वयं ही स्वरबद्ध करके गाया। अब हम उनकी बनाई बंदिशें, चीज़ें व तरानों पर विचार करेंगे।

1) राग नटभैरव में "शंकर शरण तोरे", "गुनीजन बखाने" इन दोनो ही चीजों की रचना को यदि हम देखें तो मालुम होगा कि राग की चौखट में बैठी हुई यह बंदिश काव्य की दृष्टि से भी अत्यधिक सुन्दर है। इसमे राग का भाव सौंदर्य बहुत अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। संपूर्ण बंदिश में एक प्रकार का संतुलन है। ताल एवं लय के साथ पूरी बंदिश में एक प्रवाह है।

2) राग धानी में निर्मित दोनो रचनाएँ ताल की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर बनी हैं।

3) रागेश्री राग में मध्यलय तीनताल में बँधा हुआ तराना भी बहुत सुन्दर बैठा है। इसकी रचना द्रुत ख्याल की तरह मालुम होती है। परन्तु उसकी रचना इतनी लचीली है कि उसे विविध प्रकार से सजाया जा सकता है।

4) राग बसंत में मध्यलय तीनताल का ख्याल राग-भाव के सर्वथा अनुकूल बैठा है। इसकी शब्दरचना पं. सिद्धेश्वर अवस्थी जी की है। मेरे पिताजी जब गाँधी संगीत विद्यालय में प्राचार्य थे तब बसंत पंचमी के अवसर पर इस चीज़ को प्रस्तुत किया गया था।

5) राग मालकौंस में उस्ताद बड़े गुलाम अली जी की द्रुत त्रिताल की एक चीज़ 'आए पिया मोरे मंदिरवा सब रस को लागे पागे" इसी के आधार पर तात्या ने द्रुत एकताल में एक चीज़ की रचना की है। 'दुर्गे भवानी दया करो माता। नित दुःख हरनी, सुख भरनी, दुर्गति नाशनी।' इस चीज़ के मुखड़े की शुरुवात भी तान से ही होती है तथा निषाद पर सम रखी गयी है।

अब हम लोग ललित संगीत के कुछ प्रकारों को देखें। जैसे हिन्दी भावगीत, भजन, अभंग आदि इसके अतिरिक्त तात्या ने अनेक देव स्तुतियाँ एवं देशभक्ति के गीत भी स्वरबद्ध किए हैं। 1960 से 1995 तक तात्या लखनऊ आकाशवाणी से हिन्दी गीत एवं भजन गाते रहे। पहले आकाशवाणी से गीतों के शब्द मिलते थे एवं उन्हें स्वरबद्ध करना होता था। उसी समय से गीतों को स्वरबद्ध करने का तात्या का प्रयास शुरू हुआ। उन्होंने हिन्दी कवियों की बहुत सी कविताओं को स्वरबद्ध किया। साथ ही भजनों की भी स्वर रचना की।

भावगीत गायन प्रभावशाली बनाने के लिए कम से कम तीन बातों की आवश्यकता होती है। पहले तो एक सहज, सुन्दर एवं भावपूर्ण गेय रचना हो। दूसरा-कविता के भाव के अनुरूप उसे स्वर दिए जायें तथा अंत में शब्द एवं स्वर के संयोग की प्रस्तुति उसके मर्म को समझ कर हो। कवि, संगीत नियोजक एवं गायक इन तीनों के सम्मिलित प्रयास से जब प्रामाणिक कलाकृति निर्मित होती है, तभी श्रोताओं को आनन्द लाभ होता है।

भावगीत, ख्याल संगीत से सर्वथा पृथक होता है। भावगीत में ख्याल की अपेक्षा शब्द, साहित्य एवं भाव की प्रधानता होती है। जहाँ राग दर्शन गौण होता है वहीं भाव दर्शन को महत्त्व प्राप्त होता है। भावगीत में शब्दों का चयन सोच समझकर किया जाता है तथा उन शब्दों का उच्चारण भी सोच समझ कर करना आवश्यक होता है। शब्दों के अर्थ के अनुसार उनका उच्चारण करना यह भावगीतों की विशिष्टता है। संगीत दिग्दर्शक को स्वर रचना करने के लिए दो बातों का विचार करना होता है। एक तो कविता एवं उसके आशय का ग्रहण और दूसरा उस गीत का आशय व्यक्त करने के लिए संगीत के जिस माध्यम का उपयोग करना है, उसकी जानकारी। कम्पोज़र को काव्य एवं वाङ्मय का थोड़ा ज्ञान होना ही चाहिए। भले ही वह भाषा शास्त्र का विद्वान न भी हो। ललित संगीत में गेय कविता एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटक माना जाता है, इसीलिए कलाकार को गेय कविता, उसे गाने की पद्धति, एवं उसके चुनाव के लिए उचित दृष्टि, इन सबकी जानकारी आवश्यक है। ललित संगीत में गाई जानेवाली कविता में, विषय की दृष्टि से बहुत विविधता मिलती है। अतः कविता का चुनाव भी हमें विचार करके करना चाहिए।

पद्य दो प्रकार का होता है, एक तो केवल पठनीय काव्य और दूसरा गेय काव्य। कोई भी कविता पठनीय हो सकती है, परन्तु वह गेय होगी ही, ऐसा आवश्यक नहीं है। जिस कविता का अर्थ सामान्य वाचक को भी अच्छी तरह समझ में आए, ऐसी कविता ही गेय मानी जा सकती है। कभी-कभी कविता पढ़ते समय, कवि क्या कहना चाहता है, यह वाचक को समझ में नही आता है और वाचक जो अर्थ लगाता है, कवि को वह अर्थ अभिप्रेत नही होता। कुछ कविताएं ऐसी दुर्बोध होती हैं।

अब हम कविता की स्वर रचना के विषय में देखें। तात्या अक्सर कहते थे कि "मेरे सामने कविता का आशय स्पष्ट होते ही उसके स्वर खुदबखुद सूझने लगते है।" मैंने उनकी स्वर रचना की प्रक्रिया निकट से देखी है तथा उनके रचना कौशल का अनुभव किया है। उन्हें जिस कविता की स्वर रचना करनी होती थी, उस कविता में वे स्वयं खो जाते थे। कविश्री यशवंत देव के अनुसार "कविता की स्वर रचना कहीं बाहर नही होती, वह शब्दों में ही अन्तर्निहित होती है, हमे उसे केवल खोज निकालना होता है।" श्री. मंगेश पाडगांवकर के मतानुसार "कविता की स्वर रचना पक्षी के पँखों की भाँति कविता की अंगभूत होनी चाहिए, उसे बाहर से चिपकाना उचित नहीं है।" तात्या के विचार के अनुसार "स्वर-रचना कविता के शब्दों के अर्थ से प्रामाणिक होनी चाहिए।" इसमें कविता का अर्थ अधिक से अधिक उजागर करने के लिए ही स्वरों की मदद ली जाती है। इस भूमिका को यदि हम समझ लेते हैं तो संगीत दिग्दर्शक को गीतों का अर्थ अच्छी तरह समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

अब हम लोग कुछ भजनों की स्वर रचना की ओर ध्यान दें। "जाऊँ कहाँ तजि चरण तुम्हारे" इस भजन की मेरी सीखी हुई मूल स्वर रचना राग मारवा में है तथा उसके बाद गीतों के अर्थ के अनुसार उसमें रागेश्री एवं ललित रागों का मिश्रण है। इसी भजन की दूसरी स्वर रचना राग तोड़ी में हुई है। दोनों ही स्वर रचनाएँ सुन्दर है परन्तु इस भजन में "जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे" इन मारवा के स्वरों में जिस आर्तता से व्यक्त होता है, वैसा तोड़ी में नहीं। (ऐसा ही एक भजन 'श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन' है, इस भजन को यमन, भैरवी एवं पूरियाधनाश्री इन विविध रागों में बाँधा गया है। इनमें से कौन सी स्वर रचना

इस स्तुतिपरक भजन के लिए सर्वाधिक अनुकूल है यह जाँचना होगा।) सूरदास जी के एक पद "काहे को गोपीनाथ कहावत" का शिकायत भरा भाव राग हिंडोल के स्वरों में बहुत सुन्दर तरीके से व्यक्त हुआ है।

अब हम उनके कुछ निर्गुणी भजनों पर विचार करें। सगुण एवं निर्गुण, इन दोनों प्रकार के भजनों में एक मूलभूत अन्तर है। सगुण भजन में संत की भूमिका, एक निवेदन एवं प्रार्थना करने वाले याचक की होती है। देवता को प्रसन्न करने का कोई भी मार्ग भक्त छोड़ता नहीं है। वह कभी उसके रूप का, तो कभी उसके गुणों का वर्णन करता है। "अब मैं शरण तिहारी मोहे राखो कृपानिधान" अथवा "हे गोविन्द हे गोपाल" आदि भजन सगुण भजन हैं। इसके विपरीत निर्गुणी पद का निवेदक एक फक्कड़ फ़कीर है। वह अपनी ही धुन में रहता है। उसकी भाषा बहुत सीधी व सीमित है। वह किसी और के लिए नहीं गाता। वह बिना लाग लपेट के, खरे शब्दों में अपनी बात कह देता है। उसे इस मानव जीवन के मूल्य, कारण एवं कार्य, सबका ज्ञान है। उदाहरणार्थ "धुन सुन के मनुआ मगन हुआजी", "जब मैं था तब हरि नहि, अब हरि है मैं नाहि, सब अंधियारा मिट गया जब दीपक देख्या माहिं", अथवा "युगन-युगन हम योगी अवधूता, कहे कबीर सुनो भाई साधो नाहिन कोई इच्छा, अपनी मढ़ीं में आप मैं डोलूं, खेलूं सहज स्वइच्छा"।

इन दोनों गीत प्रकारों (सगुण एवं निर्गुण) में अपेक्षित स्वर रचना में भी एक मूलभूत अंतर स्पष्ट देखा जा सकता है। सगुण गीत में उचित व्यवहार की ओर ध्यान दिया जाता है। वहाँ अपने भजन को अधिक से अधिक आकर्षक रूप में देवताओं के समक्ष प्रस्तुत करने की कामना रहती है, अतः सगुण भजन की संगीत रचना को राग-रागिनियों की विविध स्वरसंगतियों से, नाज़ुक हरकतों तथा नृत्य-सुलभ लय व उपयुक्त ठेके आदि के द्वारा जितना हो सके उतना सजाया जाता है। निर्गुण भजन का भाव कुछ इस प्रकार रहता है कि "समझदार हो तो मेरी बात सुन लो, अन्यथा मुझे कोई तुम्हारी आवश्यकता नहीं है।" इस प्रकार का फक्कड़पन निर्गुण भजन की स्वर रचना में भी दिखना चाहिए। उसमें अधिक सजावट की आवश्यकता नहीं है, इस कारण निर्गुण भजनों की स्वर रचना कुछ अलग ही होती है। निर्गुणी भजनों की आत्मा को यदि किसी ने समझा तो वे थे, स्व. पं. कुमार गंधर्व। कुमार जी इन भजनों में पूर्णतः लीन हो गए थे। मैं तो यहाँ तक

कहना चाहूँगी कि कबीर साहब की निर्गुणी वाणी, पं. कुमार गंधर्व जी के माध्यम से ही, लोगों में सही अर्थों में जानी व समझी गई। आप प्रायः यह देखेंगे कि बहुत सी श्रेष्ठ गीत रचनाएँ स्वर न मिल पाने के कारण लोगों तक पहुँच नही पाती है, क्योंकि संगीत के माध्यम से गीतों का शीघ्र प्रसार होने में मदद मिलती है। अतएव जिस समय कोई गीत स्वरबद्ध होता है और अच्छा गायक उसे गाता है, तभी गीत की सच्ची पहचान श्रोताओं को होती है। तात्या ने बहुत से निर्गुणी पदों को स्वरबद्ध किया था और उन पर कुमार जी का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरणार्थ – "घट घट में पंछी बोलता", "सिद्ध भजो ओंकार अवधो", "गगन की ओट निसाना है" आदि पदों को सुन कर ऐसा लगता है कि यह स्वर रचना कुमार जी की ही बनाई हुई है। कबीर का एक निर्गुणी पद "पांचो नौबत बाजती" इस गीत में स्थाई की अंतिम पंक्ति "बैठन लागे काग" मे दोनों रिषभ एक के बाद एक लग रहे हैं। यह कार्य जानबूझ कर, किसी कारण वश किया गया है, इस कारण यह खटकता नही है। किसी एक नए सुर को प्रस्थापित करने के लिए उसकी एक पूर्वयोजना बनानी पड़ती है। उसकी आवश्यकता निर्माण करनी पड़ती है। यहाँ पर मनुष्य के क्षण-भंगुर जीवन का दर्शन कबीर "बैठन लागे काग़" तथ्य से करा रहें हैं। शुद्ध रिषभ द्वारा केवल यह तथ्य कहा जा रहा है कि मृत शरीर पर कौवे बैठ रहे हैं परन्तु इस तथ्य की जानकारी से जिस पीड़ा एवं वैराग्य का उदय होता है वह कोमल रिषभ के आगमन से ही होता है। इस प्रकार ये दोनों रिषभ कबीर साहब के पद की भावना पूरी तरह निखार कर ला रहें हैं। दूसरा पद है, "रमैया की दुलहिन लूटल बज़ार" पद के शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए अकस्मात किसी नए स्वर का प्रयोग करने से श्रोताओं को एक पृथक अनुभूति किस प्रकार होती है यह इस पद में प्रयुक्त कोमल गंधार से स्पष्ट हो सकेगा। माया की लूटमलूट सारे विश्व में चल रही है और यह कार्य लगातार शुद्ध गंधार की सहायता से चल रहा है। अचानक कबीर साहब नई बात कहते हैं "हम तो बचि गए साहिब दया से" इस बात को जब अकस्मात कोमल गंधार का प्रयोग करके कहा जाता है, तो इस तथ्य की विशिष्टता श्रोताओं को स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है। ऐसे अनेक पदों का संगीत संयोजन तात्या ने बखूबी किया।

गानवर्धन, पुणे – 1997

⌘

स्व. पं. कुमार गंधर्व

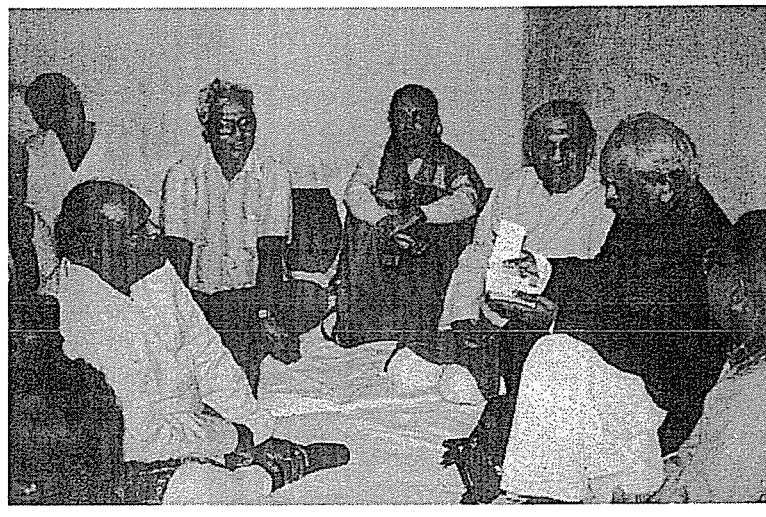

स्व. पं. कुमार गंधर्व जी की गायकी के विषय में आज मैं अपने निजी विचार व्यक्त करना चाहूँगी। अब तक अनेक विद्वान कुमारजी की गायकी के विषय में बहुत कुछ कह चुके हैं अतः अब मेरे कहने के लिए क्या शेष रह गया है, यह एक प्रश्न अवश्य हो सकता है पर कानपुर में मुझे कुमार जी को सुनने का जो सुअवसर मिला था, उस आधार पर मैं अपने विचार आपके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगी।

पं. कुमार गंधर्व जी की गायकी या गायन शैली पर यदि विचार करें तो कई विद्वानों के मतानुसार ऐसा देखने में आता है कि उनका गायन समझने में कठिन है। वह परंपरा से हट कर है तथा उनका गायन कुछ टूटा-टूटा सा अर्थात प्रवाह हीन प्रतीत होता है।

जिन श्रोताओं का यह मत है, कि कुमारजी का गायन समझने में कठिन है, मेरे विचार से उन्हें कुमार जी का गायन और अधिक सुनने की आवश्यकता है।

(पर्याप्त श्रवण से उसकी समझ निश्चित रूप से बढ़ेगी)। दूसरा आरोप यह है, कि कुमार जी अपने गायन में परंपरा का निर्वाह नही करते, इस संबंध में मेरा मत है, कि हमें परंपरा का वास्तविक अर्थ समझने के लिए शास्त्रों का पुनरावलोकन व शोध करने की आवश्यकता है। अर्थात शास्त्र में वर्णित नियमों का वास्तविक अर्थ समझना होगा। कुमार जी का गायन जिन श्रोताओं को टूटा-टूटा सा, परंपरा से हटकर व प्रवाह हीन लगता है उनके लिए मेरा सुझाव यह है, कि वे पुनः और अधिक एकाग्रता से उनके संगीत का श्रवण करें।

आज यहाँ एकत्र सभी श्रोताओं ने कभी न कभी कुमारजी की बैठक का अपूर्व आनंद लिया होगा और यह अनुभव किया होगा कि उनके पीछे बजनेवाले दो तानपुरे, दाई ओर तबला व बाई ओर हार्मोनियम, इन सभी वाद्यों के होते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है, कि मानो महफ़िल में एकमात्र कुमार जी का ही गायन चल रहा है। इस अनुभव का कारण यह है, कि उनके किसी भी वाद्य का सुर, बाल भर भी इधर-उधर नहीं होता था। उनके सुरीले मिले हुए जोड़ी के तानपूरे, सुर में मिला हुआ तबला व उसी के स्वर के अनुरूप मिला हुआ हार्मोनियम, सभी वाद्यों की सम्मिलित सुरीली ध्वनि का प्रभाव इतना शक्तिशाली व मादक होता कि उससे श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते, वहाँ केवल कुमार जी की महफ़िल में समग्रता का आनन्द अपूर्व होता था। महफ़िल की शुरुआत से ही उनके सुरीले तानपूरे जब छेड़े जाते थे, तो उन पर निर्मित होने वाले आवर्तनों की एक विशिष्ट गति होती थी। इन तानपूरों की सम्मिलित सुरीली ध्वनि आवर्तनों की इस गति पर ही निर्भर करती थी।

अब मैं कुमारजी की आवाज़ कि जाति, Voice production, Volume control, आलाप का भराव, स्वरचित्र निर्मित करने की विशिष्ट क्षमता, तानों की तैयारी, बंदिशों को बरतने में उनकी निजी कल्पना, पारंपरिक ख्यालों को बरतने का ढंग तथा स्वरचित बंदिशों की विशिष्टता तथा लयकारी, इन विषयों पर प्रकाश डालूँगी। यद्यपि कोई भी गायकी उपर्युक्त सभी तत्त्वों का एक सम्मिलित रूप होती है। उसे अलग-अलग करना उसी प्रकार है जैसे लड्डू में शक्कर, घी व बेसन को अलग कर देना तथापि किसी गायकी को समझने के लिए इन तत्त्वों का स्वतंत्र विश्लेषण करने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय भी नहीं है।

कुमार जी की आवाज़ नैसर्गिक रूप से उँची थी जिस कारण उसमें नुकीलापन व तेज़ी दृष्टिगत होती थी। उसी के साथ उनका Volume control बहुत जबर्दस्त था। आलाप का एक टुकड़ा यदि हलकी आवाज़ में लेते तो तुरन्त दूसरे टुकड़े में आक्रमक रीति से स्वरों का लगाव होता था। आवाज़ में यह सब परिवर्तन करते हुए वे स्वर से कभी इंचमात्र भी नहीं हटते थे। आवाज़ में लोच (Flexibility) रखते हुए भी उनके सुर का लगाव सटीक होता था। उनके गायन में जहाँ एक ओर खटका, मुर्की व कण आदि की चपलता दिखती थी, वहाँ दूसरी ओर वे उसके विपरीत मींड के माध्यम से स्वर को दुलार कर बड़ी गंभीरता से भी लगाते थे। कहने का तात्पर्य यह, कि उन्हें अपनी आवाज़ पर पूर्ण अधिकार था।

कुमारजी अपने गायन में आकार के अतिरिक्त एकार, ऊकार व ईकार आदि का भी बड़ा प्रभावशाली प्रयोग करते थे। उनकी आलापचारी में स्वरों का दीर्घ उच्चार न होने पर भी, उनके स्वर वाक्य कहीं भी अपूर्ण नहीं दिखते थे। उनकी विलम्बित लय भी थोड़ी चढ़ी होने के कारण, छोटे-छोटे स्वर वाक्यों में भी कहीं टूटा अथवा अधूरापन नहीं दिखता था। किसी अन्य गायकी से कुमार जी की गायकी का अन्तर वैसा ही है, जैसा कि एक छायाचित्र एवं रेखाचित्र में देखा जाता है। रेखाचित्र में छायाचित्र की भांति चित्र की सारी बारीकियाँ नही रहती। ब्रश की मात्र दो लाइनों से ही यह दिखा दिया जाता है। यह आप सभी ने दूरदर्शन पर देखा होगा। कुमारजी की आलापचारी एक सफल चित्रकार की उन सशक्त रेखाओं की भांति है जो अल्प होते हुए भी पूरी बात कह देती है। उनकी आलापचारी में छोटे-छोटे स्वर वाक्यों के बीच जो Pauses (अल्पविराम) रहते हैं, उनसे कभी भी राग रूप को कोई हानि नही पहुँचती। वे आलाप के मध्य, कुछ ऐसे स्थान पर आकर रुकते हैं, कि उस रिक्तता को उनके सुरीले तानपूरों की सशक्त ध्वनि बड़े सहज ढंग से भर देती है। कहने का तात्पर्य यह है, कि उनके आलाप में टूटापन न होकर अपनी स्वतंत्र विचारशक्ति से उत्पन्न आलापचारी की एक मौलिक कल्पना रहती है। उनके आलाप की यह विशिष्टता सबको सहसा स्वीकार्य नही होती, उसे ग्रहण करने में थोड़ा समय लगता है।

इस संदर्भ में मुझे कुमारजी की एक और विशिष्टता का ध्यान आ गया और वह है उनकी full throated (खुली), Sharp (नुकीला) आवाज़ में उनके सशक्त स्वर का लगाव। अपनी महफ़िलों में आलाप करते हुए जब वे भावाभिभूत होकर

पूरी शक्ति से स्वरोच्चार करते तो उसका गुंजन कुछ देर के लिए श्रोताओं के हृदय में ठहर कर रह जाता था। मूल स्वर, यद्यपि अधिक समय तक न भी लगाया गया हो, परन्तु उसकी आस बहुत देर तक दिलोदिमाग पर जमी रहती थी। स्वर का यह गुंजन ही आलाप में सातत्य की प्रतीति कराता था।

कुमारजी के स्वर की एक और विशिष्टता थी उसका (नुकीला) pin-pointed होना। वे कहते थे कि "स्वर के मध्यबिन्दु में रहना ही संगीत है, स्वर के आसपास तो सभी रहते हैं, और वह सरल है, लेकिन वह संगीत नही।" उनकी स्वर की पकड बड़ी जबर्दस्त थी। वे स्वर के मध्यबिन्दु पर बड़ी सहजता से ठहरते थे। उनका स्वर अपने स्थान पर इतना ठोस व पक्का लगता था कि वह बलात् श्रोताओं का मन बाँध लेता था। एक बार जब तार षड्ज का आलाप शुरू हो जाता था, तो उस षड्ज की चमक दीर्घ काल तक श्रोताओं के मनोमस्तिष्क पर छा जाती थी।

कुमार जी अधिकांश आलाप मध्य सप्तक में ही करते थे। उनका विचार था कि राग में संवाद करने के लिए मध्य सप्तक ही सबसे उपयुक्त है, उसमें बहुत गुंजाइश है। यदि ध्यान से देखें तो उनके गायन में यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। किसी भी गायकी में प्रायः आलाप एवं तान का स्थान पृथक रखा जाता है, परन्तु कुमारजी के लिए ये दोनों, दो तूलिकाओं की भाँति थे, जिन्हें वे क्षण-क्षण में बदलते रहते थे। इसी कारण उनके गायन में एक मिनट के अन्दर ही बड़ी विविधता देखने को मिल जाती थी। इस आकस्मिक बदलाव से आश्चर्य का जो भाव उत्पन्न होता है, वह उनकी शैली का विशेष गुण था।

कुमारजी की तान की गति उन्हें जन्मजात ही मिली थी। वह अभ्यास से पाना मुश्किल है। तान लेते समय उनका गला इतना हलका चलता था कि श्रोताओं को लगता था, कि इसमें कोई प्रयास ही नहीं है। उनकी तानों में पूरा जोश (force), दम व वज़न रहता था। तथा स्वर का एक एक दाना स्पष्ट व सुरीला होता था। तानों में तीनों सप्तकों में घूमते हुए भी उनकी आवाज़ का गुण कभी नही बदलता था। सपाट तानों में कुमार जी की दक्षता अपूर्व थी और वह भी अवरोही तानों में। प्रायः गायकों की तानों की समाप्ति के स्वरों में दम की कमी पड़ जाती है परन्तु कुमारजी की तानों की फेंक व धक्के की पकड़ अन्तिम

स्वर तक मज़बूत रहती थी। अलंकारिक तानों पर उनका अधिक ज़ोर नही था। तानों के प्रकार, वे राग की चलन व बंदिश के स्वरुप के अनुकूल ही प्रस्तुत करते थे।

लय की दृष्टि से देखा जाये तो कुमारजी कभी भी अति विलम्बित लय में नही गाते थे। इसके अतिरिक्त लय के आड़, कुआड़ आदि विविध प्रकार तथा सम पर आने की अतीत, अनाघात आदि लयकारी दिखाने में उन्हें कोई विशेष रूचि नहीं थी। इसके विपरीत वे बड़ी सहजता से ख्याल का आवर्तन पूरा करके, बड़ी स्पष्ट एवं आक्रमक रीति से मुखड़ा पकड़ते थे और तत्पश्चात अचूक सम पर आकर श्रोताओं की दाद लेते थे। ऐसा प्रतीत होता था मानों लय व ताल कुमार जी के साथ ही साथ चलते हैं।

बंदिशों की अदायगी में भी कुमार जी की रीति निराली थी। पारंपरिक चीज़ों को वे एक नया रूप देकर प्रस्तुत करते थे। विलम्बित ख्याल का स्थाई व अन्तरा पूरा गाने के बाद पारंपरिक ढंग से ही उसकी बढ़त करते थे। ख्याल की जो लय प्रारम्भ में रहती थी उसी लय का वे अन्त तक निर्वाह करते थे। आलाप, बोल आलाप, बहलावा व तानक्रिया, सब उसी लय में सम्पन्न होती थी। उनकी स्वरचित चीजों का कुछ अलग ही रंग था। इन बंदिशों में शब्द व स्वर रचना एक ही समय में की गई है, ऐसा मेरा अनुभव है।

संगीत जगत में उन्होंने बहुत से नये प्रयोग किये। नये राग निर्माण किये। निर्गुणी भजनों का तो एक नया पर्व शुरू किया। कुमार जी जैसे प्रतिभावान गायक व नायक बिरले ही जन्म लेते हैं। मेरी उनको भावपूर्ण श्रद्धांजलि।

अनूप विचार, पुणे

⌘

मेरे गुरु – पूज्य भैयाजी

(बाईंतरफसे) : भैरवी (भैयाजीकी कन्या), पिताजी, भैयाजी, उनके पीछे उनकी पत्नी वसुकाकी, माँ, उनके पीछे भैयाजी की कन्या स्वरवंदना

मेरे पैतृक परिवार से पं. बलवन्तराय भट्ट जी का, जिन्हें संगीत जगत भैयाजी के नाम से जानता है, लंबे अर्से से घनिष्ठ संबंध रहा है। मेरे पिताजी कैलासवासी पं. शंकर श्रीपाद बोडस एवं भैयाजी के गुरु स्व. पं. ओंकारनाथ ठाकुर दोनों गुरुभाई थे इस नाते भैयाजी मेरे पिताजी को पिता समान मानते थे। जब भी किसी कारण से पंडित ओंकारनाथ जी का कानपुर आना होता तो वे हमारे ही घर ठहरते और अक्सर भैयाजी भी उनके साथ होते। मेरी याद में कम से कम 1960 से यह सिलसिला रहा। उसके पहले भी अवश्य भैयाजी पधारे होंगे लेकिन मैं छोटी होने के कारण मुझे तभी से याद है। भैयाजी घर में होते तो अवसर पाकर मेरे बड़े भाई स्व. काशीनाथ शंकर बोडस और मैं उनसे बंदिशें सीखते या

राग संगीत के बारे में कुछ प्रश्न पूछते। अर्थात पूछते तो भाईसाहब, मैं पास में बैठकर जितना कुछ समझ में आता ग्रहण करती।

भैयाजी मेरे गुरु तो हैं ही लेकिन वे मुझे हमेशा अपनी बेटी की तरह मानते आये हैं। एक बार अपनी मौलिक शैली में उन्होंने कहा था कि "मैं उनकी गुरु बहन होने के नाते उनकी सबसे छोटी बहन हूँ और शिष्या होने के नाते सबसे बड़ी बेटी भी हूँ।"

भैयाजी से लंबी अवधि तक नियमित शिक्षा पाने का सौभाग्य तो मुझे नहीं मिला लेकिन अपने बचपन से वे जब भी कानपुर आये – कभी परीक्षक के नाते तो कभी कार्यक्रम के नाते – उनसे कुछ न कुछ अवश्य सीखने मिलता। फिर 1976-77 में अपने परिवार के साथ बनारस गई थी। प्रसंग था संटकमोचन में हम लोगों का सामूहिक भजनों का कार्यक्रम। भैयाजी और वसुकाकी (भैयाजी की धर्मपत्नी) ने हम सब 15 लोगों को भोजन पर आमंत्रित किया था। रुचिकर भोजन भी मिला और बहुत कुछ सीख़ने को भी मिला। 1984 में जब से पुणे आई हूँ तब से उनके पुणे आने पर या मेरे बनारस जाने पर उनसे सीख़ने का सिलसिला आज भी जारी है।

मेरी संगीत की प्रारंभिक शिक्षा पिताजी एवं बड़े भाईसाहब से हुई। वे दोनों स्वयं रचनाकार एवं कलाकार थे। अतः भैयाजी की अनेक नई बंदिशों के प्रति उन दोनों का विशेष रुझाव था। भैयाजी की बहुत सी बंदिशें मेरे भाईसाहब महफ़िलों में गाते थे एवं अपने शिष्यों को भी सिखाते थे। जैसे जैसे मेरी संगीत में उमर के हिसाब से समझ बढ़ती गई, मुझे भी भैयाजी की बंदिशों में रुचि होने लगी। गुरु के रूप में भैयाजी वंदनीय है। विद्यार्थी के स्तर को देखते हुए वे अनुकूल मार्गदर्शन करते हैं। बंदिशें सिखाने के अलावा रागों के रूप भी वे अत्यंत सरलतापूर्वक समझाते हैं। मेरी सारी प्रकाशित कॅसेट्स सुनकर उन्होंने अपना अभिप्राय विस्तारपूर्वक समझाया है जिससे मुझे बहुत लाभ हुआ है।

कलाकार के रूप में मैंने भैयाजी को प्रत्यक्ष तो कम ही सुना है लेकिन उनका ध्वनिमुद्रित गायन भी सुना है। उनके पुराने ध्वनिमुद्रणों में पंडित ओंकारनाथजी की स्पष्ट छबि प्रतीत होती है। ग्वालियर घराने की गायकी अष्टांगयुक्त – आठ अंगों से युक्त – कही जाती है। भैयाजी के गायन में उन सभी अंगों का दर्शन

होता है। उनके गायन की विशेषताओं में गंभीर आवाज़, आस, गमक, मींड से युक्त गायकी, स्वरों के माध्यम से शब्दों के भाव का प्रकटीकरण, सुंदर शब्दोच्चार, राग के रसभाव की सतत अनुभूति – यह सभी लक्षण मिलते हैं। लेकिन सबसे बड़ी विशेषता है – लय-ताल पर पूर्ण और विलक्षण प्रभुत्व।

संगीत क्षेत्र में भैयाजी की अनेक उपलब्धियाँ हैं। लेकिन वाग्गेयकार के रूप में वे विशेष रूप से जानने योग्य है। संगीत के इतिहास में रचनाकार के रूप में उनका स्थान निश्चित रहेगा। मेरे पिताजी कहा करते थे कि "उनकी पुस्तक 'भावरंगलहरी' के तीन भाग तीन शोध प्रबंधों के बराबर हैं। जिनमें से प्रत्येक के आधार पर एक-एक Ph.D. दी जा सकती है।"

वाग्गेयकार के 'संगीत रत्नाकर' में बताये हुए सभी लक्षण उनकी रचनाओं में विद्यमान हैं। राग के रूप एवं रसभाव का पूर्ण ज्ञान, ताल-लय एवं छंद का भान, भाषा सौंदर्य सभी गुण भैयाजी की रचनाओं में मिलते हैं। वे स्वर ताल में चुस्त होती हैं। राग के संपूर्ण रूप का उनकी ख्याल की रचनाओं में दर्शन होता है। विषय के अनुकूल उनमें भाषा की विविधता पाई जाती है। कुछ रचनायें अवधी या बृज जैसी बोली भाषाओं में हैं, तो कुछ संस्कृत प्रचुर नागरी भाषा में बनी हैं। मैंने अपने कार्यक्रमों में भैयाजी की बंदिशों को अक्सर गाया है और श्रोताओं ने उन्हें पसंद किया है। कुछ बंदिशों के बारे में लिखती हूँ।

वर्षा ऋतु के समाप्त होते-होते महाराष्ट्र का लोकप्रिय गणेशोत्सव आता है। भैयाजी की इस रचना के शब्द देखिये। –

राग – मियाँमल्हार

"गणराज के पूजन को घनराज आये,
आकाश जल सो अभिषेक कराये।।"

"रतन-भूषन-दामिनी दमकाये
स्तुति गात मल्हार इन्द्र
बादर अत घोर मृदंग बजाये।।"

रागों की प्रकृति के अनुसार कुछ रचनाएँ बहुत ही सुंदर बनकर आई हैं। जैसे राग बैरागी की यह रचना –

राग – बैरागी

"गुनी गायन कर बैराग राग
श्रीरामनाम रस मधुर चाख।।"

"स्वारथ में परमारथ साधन
छिन भर प्रभु पहचान
भाव भर गायन कर बैराग राग।।"

राग भूपाली की रचना है – "एरी बाजे मुरलिया बन में।" इस रचना में एक पंक्ति आती है। "शांत कांत संचार होत, मनो सिद्ध मंत्र श्रवनन में" शांत शब्द के आते ही स्वररचना में मध्य षड्ज लगता है और वातावरण में शांति छा जाती है। अंतरे में इस प्रकार की स्वररचना असाधारण है। वैसे तो ये पूरी रचना काव्य की दृष्टि से भी देखने योग्य है।

उनकी बंदिशों में विषयों की विविधता है जैसे देवताओं की स्तुति, बालरूप से सुदर्शन चक्रधारी रूप तक भगवान श्रीकृष्ण के अनेक रूपों का वर्णन, होरी आदि उत्सवों का वर्णन, ऋतुओं का वर्णन, यह सभी विषय रचनाओं में मिलते हैं। विषय कोई भी हो प्रायः सभी रचनाओं में भक्तिभाव की अंतर्धारा अवश्य रहती है।

भैयाजी की बंदिशों में ताल का प्रयोग एक अनुभव करने की बात है। उन्होंने प्रायः सभी तालों में बंदिशें रची हैं लेकिन मध्य लय एवं द्रुत आड़ाचौताल उनका प्रिय ताल माना जा सकता है। उन बंदिशों को पहली बार सीखने पर उनका ताल सौंदर्य पूरी तरह समझ में नहीं आता। अभ्यास से धीरे-धीरे उसके बल स्थानों का संतुलन कलाकार को दिखाई देने लगता है। एक बार भैयाजी को अपेक्षित लय-ताल के नक्शे का अंदाज़ा लग जाए तो फ़िर क्या कहना – आनंद ही आनंद है। मानों किसी मंत्र को अभ्यासपूर्वक सिद्ध किया गया हो और तत्पश्चात् उस सिद्ध मंत्र के उच्चारण मात्र से इच्छित प्रभाव दिखाई पड़ने लगे। ठीक इसी प्रकार केवल स्थाई-अंतरा गाने पर श्रोताओं की वाह-वाह मिलती है बशर्ते समझकर गाया जाये।

भैयाजी की विलम्बित या द्रुत सभी रचनाओं के मुखड़े इस खूबी से बने होते हैं कि वे कलाकार को एक ही रास्ते पर चलने को बाध्य नहीं करते।

अलग-अलग जगह बनाते हुए, भिन्न-भिन्न मात्राओं से उठकर सम पर आने के कई मार्ग हर मुखड़े में छिपे रहते हैं। भैयाजी से पहली मुलाकात में उनकी अद्वितीय प्रतिभा सबसे पहले आकर्षित करती है। दुनियाँ की दैनिक गतिविधियों के बारे में उनकी चतुरस्त्र जानकारी का अनुभव होता है। फिर धीरे-धीरे उनका मृदु और सरल स्वभाव आपको मोह लेता है। थोड़े ही समय में कोई भी व्यक्ति अपने आपको उनके बहुत करीब पाता है। बिना चुभने वाला हास्य-विनोद उनके स्वभाव का एक विशेष पहलू है। हम दोनों भैयाजी को लेकर अपनी कार से कहीं गये। जाते समय मेरे पति डॉ. सहस्रबुध्दे गाड़ी चला रहे थे। लौटते समय जब मैं चलाने लगी तो भैयाजी ने तुरन्त पहचान लिया कि ड्राईव्हर बदल गया है। बोले –

"अरे! ग्वालियर घराने की शैली से कार चल रही है। इसमें गमक और मींड है। यें तो वीणा ही हो सकती है।" इस मज़ेदार वाक्य से अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने डॉ. सहस्रबुध्दे को कार धीरे चलाने की सूचना दे डाली।

अपने कथन के अंत में कुछ व्यक्तिगत यादें दोहराना चाहूँगी। लगभग 35 साल पहले भैयाजी परीक्षा लेने कानपुर आए थे। मेरे भाईसाहब ने उनसे बिलासखानी तोड़ी राग का छोटा ख्याल सिखाने का अनुरोध किया। उस समय भैयाजी आँगन बैठे आराम कर रहे थे और हम लोग अपना अपना कार्य कर रहे थे। दूसरे दिन सुबह तक एक नई बंदिश तैयार करके भैयाजी ने हम दोनों को सिखा दी। – "हमे न सिखाओ यह ज्ञान" – बड़ी सुंदर बंदिश है। अनुरोध पर बंदिशें बनाने की उनकी शक्ति का दूसरा अनुभव तब आया जब मैं ऋतुओं से संबंधित रागों और रचनाओं का संकलन कर रही थी। इसमें मेरे कहने पर भैयाजी ने हेमंत राग में हेमंत ऋतु वर्णन की सुंदर रचना के शब्द और स्वर बाँध दिये। और भी कई ऋतुओं से संबंधित रचनाएँ दीं। कुछ स्वयं उनकी बनाई हुई, कुछ पारंपरिक भी।

सन 1980 के लगभग वे आय.आय.टी. कानपुर में मेरे घर रुके थे। सुबह उठकर उन्होंने बगीचे में बैठने की इच्छा व्यक्त की। बोले – "यहाँ अनेक प्रकार के पक्षी है, मुझे उनके तरह-तरह के स्वर सुनने हैं।"

भैयाजी की 75 वी वर्षगाँठ के इस शुभ अवसर पर परमेश्वर से यही प्रार्थना है कि उन्हें दीर्घायु और आरोग्य दे ताकि उनकी विलक्षण प्रतिभा का मैं और उनके अन्य शिष्य लाभ उठा सकें।

भैयाजी के अमृतमहोत्सव निमित्त, वाराणसी

⌘

स्व. पं. वसंतराव ठकार – एक अनोखा व्यक्तिमत्त्व

वसंतराव जी का हमारे घर से बड़ा ही पुराना घनिष्ठ संबंध रहा। स्व. पं. वामनरावजी ठकार (वसंतरावजी के पिता) और मेरे पिताजी दोनों ही स्व. पं. वि.दि. पलुस्कर जी के शिष्य होने के नाते गुरुबंधू रहे। वसंतरावजी के दो और छोटे भाई थे। अलाहाबाद में वे कई वर्ष, वहाँ की संगीत संस्थाओं से संलग्न रहे। कानपुर में संगीत परीक्षा लेने हेतु जब वे आया करते तो संगीत गोष्टी, चर्चायें, बंदिशों का आदान-प्रदान होता। ठकारजी मेरी माँ से कहते, "वीणा के साथ मैं भी मायके कुछ दिन रहने के लिये आया हूँ" – और फिर गाना, बजाना, संगीत संबंधी चर्चायें घंटो चलती। उनका स्वभाव बड़ा ही सरल, मिलनसार हँसी-मज़ाक का था। किसी भी आयु की व्यक्ति के साथ, उनकी दोस्ती हो जाती, और उस व्यक्ति के साथ इतने हिलमिल जाते मानो कई वर्षों से वे एक-दूसरे से परिचित हों। 1982 का एक संस्मरण मुझे याद आता है – चिन्मय मिशन के ब्रह्मचारी विवेक चैतन्यजी (स्वामी तेजोमयानंद) का प्रवचन सप्ताह कानपुर में आयोजित किया था। मेरी माँ, पिताजी और मुझे प्रवचन सुनने की बड़ी इच्छा थी। प्रवचन सुनने के लिये बच्चों की व्यवस्था कहाँ और कैसे करूँ यह समस्या थी – वसंतजी तुरंत बोल उठे, "वीणा, तुम चिंता न करो। मैं तुम्हारे बच्चों के साथ खेलता रहूँगा – तुम निश्चिन्त होकर प्रवचन सुनने बैठो। यद्यपि वे शादी शुदा न थे। फिर भी उनको बच्चों से बड़ा लगाव था। उनके स्वभाव का एक और विशेष गुण – उनकी गुणग्राहकता। संगीत संबंधी उन्हें यदि कोई बात अच्छी लगती तो वे तुरंत सीखने को तत्पर रहते थे। यद्यपि वह व्यक्ति उम्र में अपने से भले छोटा क्यों न हो – सीखने में झिझकते नहीं थे। अपने जन्मदिन पर अपने प्रिय लोगों को सुंदर भेंट-वस्तु देकर जन्मदिन मनाने का एक अनोखा तरीका उन्होंने निकाला था।

ठकारजी ने विद्यादान का पवित्र कार्य बड़ी खुशी के साथ स्वयं आनन्द लेते हुए किया। दिल्ली के गांधर्व महाविद्यालय में कई वर्ष तक उन्होंने संगीत अध्यापक

का भार सँभाला। Gandharva Choir Group के लिए कई धुनों का निर्माण किया। बंदिशें, समूहगीत, ध्रुपद आदि रचनायें बनाई और उनको Choir Group द्वारा पेश कीं। वे एक आदर्श शिक्षक तो थे ही, साथ ही साथ खुले विचारों के भी थे। गायन सिखाते वक्त वे बड़े ही जागरूक रहते थे। विद्यार्थी को राग बंदिश सिखाते समय उसके स्वर, शब्दों के उच्चारण, लय और ताल की तरफ सावधानता है या नहीं – इस ओर उनकी पैनी नज़र रहती थी। यहाँ तक कि उस बंदिश को कैसे नहीं गाना चाहिये, ऐसी गाने से वे कैसी भद्दी लगेंगी इसका उदाहरण वे स्वयं प्रत्यक्ष गाकर बताते और अपनी बात स्पष्ट करते। वसंतराव जी के पास पारंपरिक बंदिशों का संग्रह तो था ही, साथ ही साथ उन्होंने स्वयं अपनी बंदिशें जो रची हैं, वे भी बड़ी ही आकर्षक हैं। प्रायः मैफिलों में मैं उनकी बंदिशें गाती हूँ। उनकी बंदिशों की तरफ़ यदि हम गौर से देखें और सुनें तो अनुभव होगा कि बंदिशों में एक सहज प्रसादगुण है साथ ही साथ वे प्रवाही भी हैं। लय, ताल, सुर का आनंद तो उनकी बंदिशों में है ही, किंतु साहित्य की दृष्टि से यदि उन बंदिशों को परखा जाये तो शब्दों का चयन, विषय आदि राग के स्वभावानुसार प्रयोग में लाये गए हैं। उनकी बंदिशों में मौलिकता है, कुछ अलगपन है। ऐसा उनका मानना था, कि बंदिश में काव्य विषय की दृष्टि से वे बहुत क्लिष्ट न रहें, गेय रहे, शब्दों की भरमार न होने पावें।

राग देश की एक मध्यम झपताल में निबद्ध बंदिश

स्थाई – रंग उड़त है चहुँ ओर।
ये गुलाल के बादर।
छाये रिमझिम, केसर रंग परत है।।

अन्तरा – अत धूम मची बृज में।
भीजे कुँवर कन्हाई, विहसत नरनारी।
मिल होली मनावे।।

मेरे इस उपर्युक्त कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसा राग का स्वभाव व चलन है उसी प्रकार बंदिश के लिए विषय भी चुना गया है। बैरागी राग की दोनों बंदिशें (विलंबित व द्रुत) बहुत ही सुंदर बनी हैं। बैरागी राग के सुरों द्वारा वातावरण

निर्मिति तो होती ही है, लेकिन साथ ही साथ भगवान शंकर के स्वरूप के वर्णन का शब्द विलास जो दिखाई देता है वह भी रागानुरूप है। एक और विशेष बात उनकी रचनाओं में दिखती है, वह है विलम्बित और द्रुत बंदिशों के काव्यविषय एक दूसरे के पोषक होते हैं। जैसे राग बैरागी और बिलासखानी तोड़ी दोनों बंदिशों को देखें –

बैरागी

विलंबित ख्याल –

स्थाई – राजत ललाट चंद्रमा त्रिलोचन
अंग बभूत धारे।

अंतरा – सीस गंग, गले भुजंग, कर त्रिशूल डमरू धारे।

द्रुत ख्याल –

स्थाई – डमरू बाजे डिम डिम, तांडव सो शिवशंकर।

अंतरा – चंद्रमा ललाट सोहत अत, गंग जटा, त्रिशूल कर धारे।

बिलासखानी तोड़ी

विलंबित ख्याल –

स्थाई – इतनी अरज सुनो मोरे सैंया, अपनो ना बिसाऱ्यो
घर छांडू कैसे सुख पायो, मोहे बिरहा जलाये।

अंतरा – घर की सुध लीजै अब, औरन को कहे
न आयो, बुधजन कहे यही साँचो।

द्रुत ख्याल –

स्थाई – अब तो सुध लीजे मोरी, सुनिये नाथ इतनी बिनती।

अंतरा – मोहे पऱ्यो भरम मन, अपनो बिसाऱ्यो,
शरण हूँ तिहारी नाथ।

ठकार जी का मानना था कि कलाकार और श्रोताओं का एक दूसरे से संवाद होना बहुत आवश्यक है। गायन प्रस्तुत करते समय कलाकार की मुद्रा प्रसन्न और शांत होनी चाहिये, भले ही वह आँखे मूँदकर गायन प्रस्तुत क्यों न करे, लेकिन उसकी संगीत के प्रति तन्मयता, भक्ति और प्रेम होना जरूरी है। व्यक्ति जैसा अंतर्भाव रखता है वही भाव उसके चेहरे पर दिखाई देता है। मुझे एक बार आकाशवाणी के मंगलवासरीय संगीत सभा में राग बिहाग गाने की सूझी। लेकिन मुझे कुछ नई बंदिशें चाहिए थीं। मैंने ठकारजी को कहा – तो उन्होंने तुरंत विलम्बित और द्रुत रचनाएँ – कॅसेटमें स्वयं गाकर वह कॅसेट मुझे डाक द्वारा भेज दीं। वे दोनों बंदिशें मैंने आकाशवाणी के 1982 के मंगलवासरीय संगीत सभा में गाई – सुनकर वे खुश हुए।

उनके मृत्यु के कुछ महिने पूर्व वे मेरे यहाँ पुणे में 10 दिन रहने के लिये आए थे। उस समय मुझे उन्होंने अपनी सभी बंदिशें सिखाई व टेप करने को कहीं। मैं अपने को बड़ी भाग्यवान समझती हूँ कि वसंतराव जी ठकार जैसे विद्वान कलाकार का मुझे सहवास प्राप्त हुआ, और उन्होंने अपनी सभी बंदिशें मुझे सिखाने के काबिल समझा।

⌘

स्व. पं. गजाननबुवा जोशी

पं. गजाननबुवा जोशी जी का नाम संगीत जगत् में सर्वविदित है। संगीत जगत् में उन्हें 'गजाननबुवा' इसी नाम से जाना जाता था। वे एक गणमान्य कलाकार थे। मेरे पिताजी तो उनके विषय में कहते कि, "बुवा कलाकारों के कलाकार हैं।" - उनके कार्यक्रमों में विशेषकर कलाकार इस आशा से आते, कि कुछ अलग सुनने को मिलेगा या कुछ सीखने को मिलेगा। ऐसी उनकी असाधारण प्रतिभा थी। वे स्वयं भी सर्वसाधारण श्रोताओं की वाह-वाह को ज्यादा महत्त्व नहीं देते थे, वरन् उनका कहना था कि एक अच्छे कलाकार की, सच्ची दाद मिलने से ही मैं समझूँगा कि आपने संगीत में कुछ हासिल किया।"

उनके संगीत यात्रा का एक और पहलू ध्यान देने योग्य है। जब बुवा श्रोताओं पर अपने गायन एवं व्हायलिन वादन की धाक जमा चुके थे और उनके कार्यक्रम तथा अध्यापन अच्छी तरह चल रहे थे, तब आगरा घराने के उस्ताद विलायत हुसेन खाँ साहब की कला से प्रभावित होकर वे तुरंत उनके गंडाबंध शागिर्द बने। उसके पश्चात इसी प्रकार कोल्हापुर में रहकर उस्ताद भुर्जी खाँ साहब से भी जयपुर घराने की तालीम हासिल की। इस तपस्या से उनको यह अधिकार प्राप्त हो गया था, कि वे यह कहकर गाते कि "अब मैं जयपुर गायकी सुना रहा हूँ, आगरा या ग्वालियर की छबि इसमें बिल्कुल नहीं दिखाई देगी" – अपनी प्रतिज्ञा खरी करके दिखाते। अपने से आयु में छोटा क्यों न हो, यदि कोई अच्छी बात सुनाए, जैसे कोई बंदिश, तो तुरंत सीख़ने के लिये तैयार रहते थे। उनका यह स्वभाव उनके जीवन के अंत तक बना रहा।

1958-60 के लगभग जब वे लखनऊ आकाशवाणी में 'संगीत सलाहकार' (Music Advisor) के हैसियत से एक वर्ष रहे थे, तब उनका हमारे घर कानपुर में आना-जाना काफी होता था। लखनऊ और कानपुर तो काफी नज़दीक है। जब कभी भी लंबी छुट्टियाँ होती, वे हमारे घर आते, संगीत संबंधी चर्चाएँ, अभ्यास, रियाज़ घंटो चलता। मैं तो उस समय आयु में काफी छोटी थी, लेकिन मुझे बड़े

भाईसाहब का यह कहना याद है कि बुवा का रियाज़ इतना जबर्दस्त था कि गायन के 3 घंटे अभ्यास के बाद, तुरन्त व्हायलिन का अभ्यास करने बैठ जाते। दोपहर को केवल भोजनोत्तर आधे घंटे का ही विश्राम लेते थे। उनका कहना था कि 'यदि संगीत के विद्यार्थी को अभ्यास या रियाज़ का आलस्य हो तो, उसे संगीत इस कला को छूना ही नही चाहिये।" कड़ी मेहनत और अनुशासन को वे बड़ा महत्त्व देते थे। ऐसा कहिये कि संगीत में डूबे रहना यही उनके लिये जीवन का सार था।

1984 के दिसंबर माह में मै सर्वप्रथम 10 दिन उनसे सीख़ने डोंबिवली, बंबई गई थी। वह प्रसंग मुझे अभी भी याद है। पूना के सवाई गंधर्व महोत्सव में मैने उस वर्ष पहली बार गाया था। डोंबिवली पहुँचने पर बुवा ने मेरा स्वागत किया और सबका कुशलमंगल पूछा। उन दिनों मेरी माँ और पिताजी पूना में ही थे। अपने सभी शिष्यों से बुवा ने मेरी पहचान करवाई और कहा कि, "मेरे अत्यंत स्नेही मित्र शंकरराव बोडसजी की यह लड़की है। मुझसे गाना सीखने पूना से आई है।" उस कार्यक्रम की खबर उनके कानों तक पहुँच चुकी थी। मुझे तानपुरा मिलाने को कहा और कुछ गाने के लिये भी कहा। मैंने राग तोड़ी में एक छोटी द्रुत बंदिश सुनाई। मेरे तानपूरा मिलाते ही उनकी आँखे चमकी।" तानपूरा अच्छा मिलाया ऐसा कहा।" कौन सा राग सीखोगी?" बुवा ने पूछा। इस बात की चर्चा मैंने बड़े भाईसाहब से पहले ही की थी। भाईसाहब ने तुरन्त कहा था, "राग हमीर ही सीखना, वह उनका खास राग है।" सो मैंने हमीर राग सीखने की इच्छा प्रदर्शित की – और फिर यह सीखने का सिलसिला कुछ दिन चालू हो गया।

उनका सिखाने का ढंग बहुत ही सुव्यवस्थित था। किसी राग को सिखाते समय राग में लगने वाले सुरों के साथ स्वर लगाव के साथ आलापचारी सिखाते, जिससे उस राग का ढाँचा, शिष्य के मन में पक्का बैठ जाता। दो-चार स्वर वाक्यों में राग का पूर्ण रूप प्रकट हो जाता। तत्पश्चात उस राग का धीरे-धीरे विस्तार सिखाते। इतना होने पर बंदिश, सिखाते और फिर ताल शुरू होता था। वही बंदिश ताल में कैसी गाई जाएगी यह वे स्वयं गाकर बताते। उनके गायन सिखाते समय, मैंने विशेष बात यह अनुभव की, कि लय, ताल का जो सूक्ष्म विचार उन्होंने किया था, शायद वही कारण रहा होगा कि हर आवर्तन में एक

चिरंतन प्रवाह जैसा उनके गायन में महसूस होता। मानों लय उनके गायन की सभी क्रियाओं के साथ चल रही हो। उनके संपूर्ण गायन में लय, ताल का वज़न सदैव कायम रहता था। लय और ताल मानों उनके खून में ही था। वे स्वयं एक कुशल तबला वादक होने के कारण हम सभी विद्यार्थियों को परन, टुकड़े आदि याद करने और हाँथ से ताली देकर पढन्त करने का आग्रह करते थे। इससे सभी विद्यार्थियों को लय, ताल का पक्का ज्ञान हो जाता, साथ ही साथ विभिन्न लयकारी का अनायास अभ्यास भी हो जाता। तबला नवाज़ उस्ताद अहमदजान थिरकवा जी से बुवा का बड़ा घनिष्ठ संबंध रहा। उनके प्रति बुवा को बड़ा आदर था। अनेक कार्यक्रमों में थिरकवा साहब ने बुवा की संगत की थी। मेरे पिताजी तो बुवा को 'लय का राजा' कहते थे। वे अपनी गायन की लय ग्वालियर की परंपरा के अनुसार मध्य विलंबित ही रखते थे, जिस लय में श्रोता को ताल का स्वरूप स्पष्ट दिखाई दे वही लय उचित है, ऐसा उनका मानना था। ताल के आवर्तन को भरते समय, बंदिश के मुखड़े को भी, वे उसी में पिरोके ऐसी सुंदर ढंग से सम पर आते कि कभी-कभी श्रोता भी सहसा उनके साथ मुखड़ा गा पड़ते। वे अपने गायन में स्वयं इतने तल्लीन रहते, कि कोई आवर्तन, उनके मन मुताबिक बन आने पर, स्वयं ही वाह-वाह भी कहते।

ग्वालियर, आगरा और जयपुर घराने की शैली पर उनका पूरा अधिकार होने के कारण उन घरानों के विशेष राग, बंदिशों का भी उनके पास अच्छा संग्रह था। कुछ अप्रचलित रागों में द्रुत बंदिशें उन्हें नहीं मिली, तो स्वयं उन्होंने द्रुत बंदिशों की रचनाएँ की। पूना के भारत गायन समाज में बुवा के 75 वी वर्षगाँठ पर अमृत महोत्सव का आयोजन किया गया था। उस समय पहली बार उन्हीं का सिख़ाया राग हमीर मैंने उनके समक्ष गाया था। गायन समाप्त होने पर मैंने उनको नमस्कार किया तो उन्होंने कहा "अच्छा गाया। आठ दस दिन सीखने पर तुमने मेरी शैली अच्छी उठाई है। मुझसे 15-20 राग और सीख़ लो, फिर तुम्हें और कुछ करने की जरूरत नहीं महसूस होगी।" लेकिन विधि का विधान कुछ और ही था। उसके बाद उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ता गया और मुझे आगे और सीख़ने का मौका न मिल सका।

उनका शिष्य परिवार भी बहुत बड़ा है। उनके प्रमुख शिष्यों के कुछ नाम – श्री. अशोक रानडे, उल्हास कशालकर व कशालकर बंधू, श्रीमती पद्मा तलवलकर, श्रीमती जयश्री पाटणेकर, श्रीमती शुभदा पराडकर उनके स्वयं के पुत्र श्री. मधु जोशी व पुत्री श्रीमती सुचेता बिडकर आदि अनेक शिष्य हैं। इसके अलावा पं. सुरेश तलवलकरजी की प्रगति में बुवा के योगदान की पं. तलवलकर स्वयं सराहना करते हैं।

यह मैं अपना परम सौभाग्य समझती हूँ कि बुवा जैसे असाधारण कलाकार का मुझे सहवास मिला और उनका आशीर्वाद भी मिला। उनको मेरी भावपूर्ण श्रद्धांजलि।

⌘

शास्त्रीय संगीत में नवनिर्मिति

शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत कलाकारों को नवनिर्मिति के अनेक अवसर मिलते हैं। कुछ कलाकार नए रागों का निर्माण करते हैं, तो कुछ नई बंदिशों की रचना करते हैं। पुराने रागों की पुरानी बंदिशें गाते हुए भी उनकी प्रस्तुति में नवीनता लाने के अनेक अवसर रहते हैं। इस प्रकार किसी भी रूप में प्रस्तुति की नवीनता हो तो उसे नवनिर्मित कहा जाएगा।

नए राग बनाने के सम्बन्ध में मेरा कोई अनुभव न होने के कारण इस विषय में मैं मौन रहूँगी। इसके अतिरिक्त अन्य दो प्रकार के कार्य, अर्थात पुराने रागों की प्रस्तुति में नवीनता तथा नई बंदिशों का निर्माण, मैंने किए हैं, अतः इस संदर्भ में मैं अपने अनुभव आपके समक्ष रखना चाहूँगी। मैंने पाया है कि ये दोनों ही कार्य प्रायः अन्योन्याश्रित भी होते हैं।

किसी राग में कितने अलग-अलग तरह के आलाप लिए जा सकते हैं, उनका कैसा भिन्न परिणाम होता है। किसके बाद क्या लेने से सुन्दर दिखता है, इसका जितना अधिक शोध किया जाय, उतना ही उस राग को अच्छी प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। इस शोध को मैं राग में 'रास्ते ढूँढना' कहती हूँ। राग कौसी कानडा में इसी प्रकार रास्ते ढूँढते हुए मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इस राग में मालकौंस की तरह भरपूर गहराई है। मालकौंस में एक ख्याल है –

'याही विधि होत, सिद्धकर दरस भजन
हर को, जो लौं घट में प्राण तन मन सों

इस ख्याल का सम मध्य सप्तक के षड्ज पर है। इस ख्याल के द्वारा मालकौंस की बहुत सुन्दर प्रस्तुति की जा सकती है। इस प्रकार का मन को भाने वाला ख्याल कौसी कानडा मे मुझे नहीं मिला। चीज़ सुन्दर है, जो इलाहाबाद के पं. रामआश्रय झा जी की है –

'सोचत काहे रे मनुवां, हमरे तो राम रखवारे।
बाधा कटे विघन सब हारे रामरंग नाम उचारो।।'

इस ख्याल के साथ शोभित हों ऐसे शब्द चुनकर मैंने यह विलम्बित ख्याल बाँधा –

'सोहे राजाराम अवध में, लखन सिया समेत।
राम जपत मारूत सुत ठाढ़े, हरषे देव मुनि सारे।।'

इस ख्याल में अपनी इच्छा के अनुकूल मैंने षड्ज पर सम रख कर इसकी रचना कर ली। इससे स्पष्ट है कि शुरुवात हुई कौसी कानडा में रास्ते ढूँढ़ने से, और उसी प्रवाह में एक ख्याल का निर्माण हो गया।

अधिकतर बंदिशें इसी प्रकार सहजता से बन जाती हैं। आज अमुक राग में अमुक ताल में अमुक लय में बंदिश बनानी है ऐसा निश्चित नहीं होता है।

रेलगाड़ी में सफ़र करते हुए मुझे खिड़की के पास की जगह मिलती हैं और रेल के पहियों का ठेका तो चालू ही रहता है। खिड़की के बाहर दृश्य बदलते रहते हैं और अचानक स्वरों की एक लड़ी मश्तिष्क में बँधने लगती है। फिर जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में समस्या पूर्ति होती है, उसी पद्धति से वह स्वर लड़ी स्थाई - अंतरे के साँचे में सुन्दर ढंग से बैठे इस प्रकार बैठाने का प्रयास होता है। मेरे कितने ही तराने इसी प्रकार सफ़र के दौरान बैठे हैं।

कभी कभी एक विशिष्ट आवश्यकता होती है और उसके अनुसार मैं बंदिश बनाती हूँ। 'ऋतुचक्र' के लिए बंदिशों का संकलन करते समय मैंने शुद्ध सारंग और गर्मी की दोपहर में एक अज्ञात सा सम्बन्ध अनुभव किया।

एक बार यह निश्चय कर लेने पर कि ग्रीष्म ऋतु को इसी राग में लेना है, मुझे उसके उपयुक्त बंदिश की आवश्यकता थी। काव्य में बसंत एवं वर्षा ऋतु का बहुत वर्णन मिलता है। ग्रीष्म का कोई वर्णन नहीं मिलता अतः स्वयं ही शब्दरचना करके उसे स्वरबद्ध किया –

'तपन लागी ये घरा, चहुं दिसि विकल भए सब लोगवा।
तरपत है, जल बिन तनवा, पिया बिन मनवा।।'

इसके साथ ही उसी विषय की मध्य लय की बंदिश भी बैठाई –

"आओ रे आओ कारे बदरा
जियरा मोरा अत ही अकुलाए।

बाट तकत तोरी, सब नर नारी
तुम बरसो हम देंगी तारी।।"

ऊपर बताई गई आवश्यकता बहुत निश्चित स्वरूप की थी। कभी-कभी यह आवश्यकता कुछ अस्पष्ट सी भी होती है। उदाहरण के लिए मुझे राग बागेश्री में मध्यलय, अद्धा त्रिताल में गाने का मन था। बागेश्री में पारंपरिक विलम्बित ख्याल कई हैं। कई द्रुत चीज़ें भी हैं। इन दोनों के बीच की जगह भरनी थी। अपेक्षित मध्यलय की बंदिश की एक रूपरेखा भी मेरी आँखों के सामने थी। उसे गुनगुना कर देखा, फिर शब्द सूझे और बंदिश इस प्रकार बन गई –

'श्याम घन छाए, मोरे मन भाए।
कारी बदरिया बरसन लागी।
कैसी ऋतु बरखा की आई
बरसन लागे रिमझिम मेहा।। '

एक बंदिश में कई अलग अलग पहलू होते हैं। हर राग का एक विशेष भाव होता है। उसे व्यक्त करने के लिए बंदिश की कौन सी लय रखी जाय यह तय करना होता है। शब्द, स्वराकृति, ताल एवं लय इनका जब उचित संयोग होता है, तभी सुन्दर रचना बनती है। दो वर्ष पूर्व सुबह की महफ़िल थी। उसमें भूपाल तोड़ी गाना निश्चित हुआ था। इस राग में विनती का भाव है। इसमें पूजा व भक्ति का भाव है ऐसा मुझे प्रतीत हुआ। अतः उसी भाव के अनुरूप शब्दरचना तैयार की।

विलम्बित ख्याल के बोल हैं –

स्थाई – पार करो मोरी नैया, तुम बिन कौन तारनहार।

अंतरा – दीनन दुख हरन, संत जन के मन रंजन
तुम ही हो सबके पालन करतार।।"

मध्यलय तीनताल में निबद्ध बंदिश के बोल हैं –

स्थाई – तुम बिन कौन सहाय, या जग में दूसरो न कोई।

अंतरा – जगत उधारण प्रभु तुम करुणा के सागर।।

इस राग में द्रुतलय का तराना पहले से ही बना हुआ था। वह भी इन बंदिशों के साथ सुन्दर लग रहा था। इस प्रकार जब पूरा संयोग मनोनुकूल होता है, तब उसका आनन्द अवर्णनीय होता है। सदैव ही इच्छा के अनुरूप बंदिश बन जाय ऐसा नहीं होता। कभी थोड़ी बंदिश बनने के बाद उसमें कहीं कुछ खटकने लगता है। कभी-कभी स्थाई बहुत सुन्दर बैठ जाती है परन्तु बहुत प्रयास के बाद भी अंतरा उसके अनुरूप नहीं बन पाता। अर्थात् जब तक पूरी बंदिश मन के अनुरूप न हो तब तक मैं नहीं मानती कि बंदिश तैयार हुई है। निश्चित ही ऐसी अधूरी बंदिशें मन को परेशान करती रहती हैं।

जबसे मैं संगीत समझने लगी हूँ, तब से मैं रागों में रास्ते खोजना तथा बंदिश बनाना ये दोनों ही कार्य करती आई हूँ। इसके परिणाम स्वरूप मैं अपने मन के अनुसार गा सकती हूँ। किसी और का रूप धारण करके मैं जी रही हूँ ऐसी भावना मुझे नहीं होती। मेरी बंदिशें भविष्य में रहती हैं अथवा नहीं रहतीं उन्हें अन्य गायक अपनाते हैं या नहीं अपनाते इसका मैं कोई विचार नहीं करती हूँ। मुझे अपनी बंदिशों से अत्यधिक संतोष मिलता है और इसी संतुष्टि के लिए मैंने यह कार्य चालू रखा है।

⌘